मोक्ष – शास्त्र

भाग 22

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

मोक्ष-शास्त्र

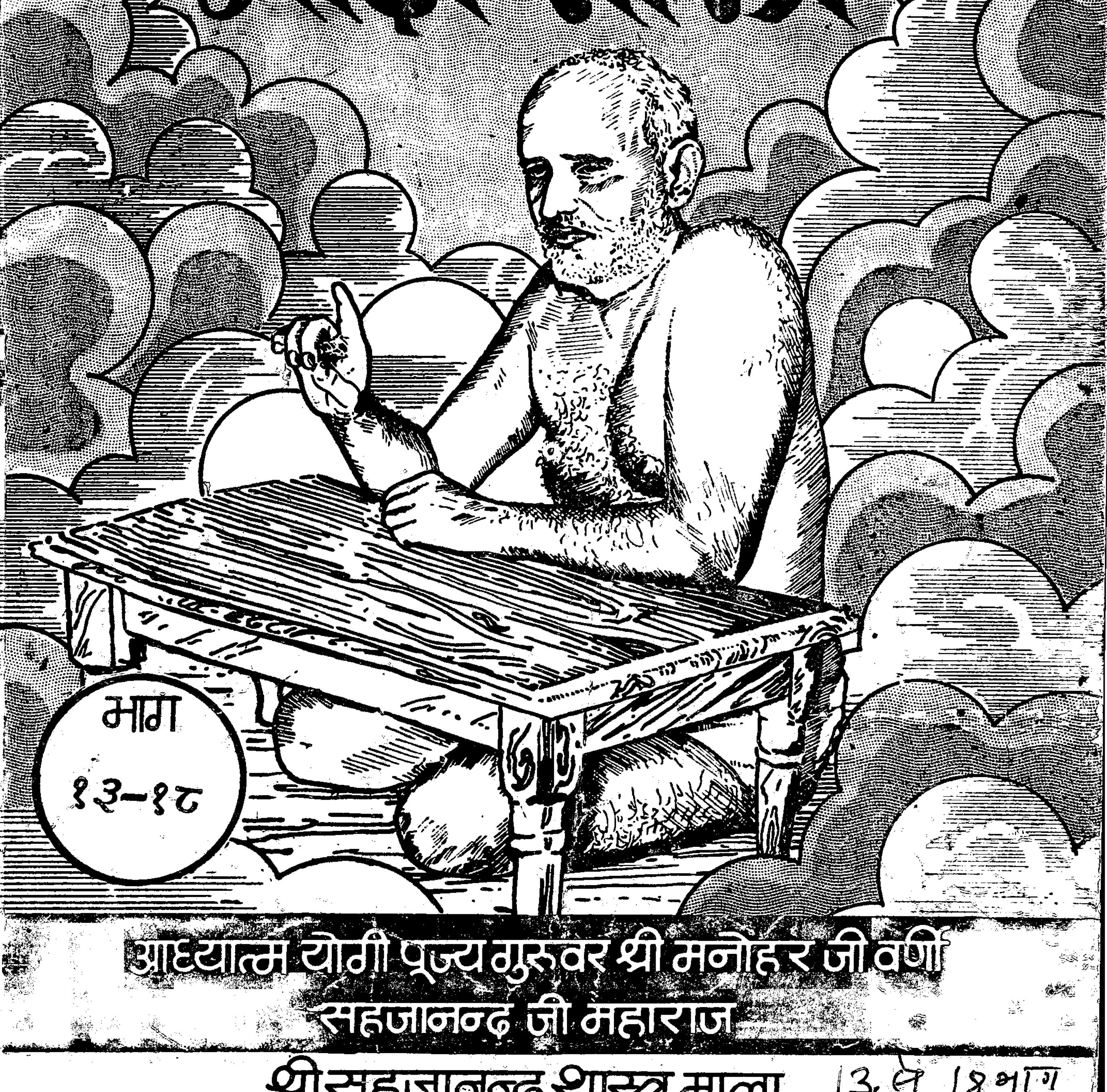

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला 13 से 18 भाग
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर-मेरठ

प्रकाशकीय

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

श्रीमदुमास्वामी द्वारा प्रणीत 'मोक्ष शास्त्र' जैन धर्म व जिनशासन का प्राण है। प्रणेता ने छोटे छोटे सूत्रों में गागर में सागर भर दिया है। इस पर आठ दस शताब्दी पूर्व श्रीमद्भट्टाकलंकदेव, श्रीमद्विद्यानन्दि स्वामी जसे दिग्गजों ने टीकाएँ की हैं। परन्तु टीकाएँ संस्कृत में होने के कारण जनसामान्य के उपयोग में नहीं आतीं।

यह समाज के परमहित व उपकार की बात है कि पूज्य गुरुवर्य्य श्री सहजानन्द जी महाराज ने इस ग्रन्थ पर प्रवचन किये हैं। धर्म के मर्म को महाराज श्री ने किस प्रकार उजागर किया है, यह तो ग्रन्थ के अध्ययन से ही पता लगता है।

जिज्ञासु बन्धुओं से निवेदन है कि इस प्रवचन में संजोये रत्नों का लाभ उठायें जिससे मोक्ष मार्ग में प्रगति हो और सत्य सहज आनन्द प्राप्त हो।

मंगलाकांक्षी
मंत्री
सहजानन्द शास्त्रमाला
मेरठ

श्री दि. जैन ... मंडल,
श्री ...
मल्हारगंज, इन्दौर.

मोक्ष शास्त्र प्रवचन

बाइसवाँ भाग

[प्रवक्ता-अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज]

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातरं विश्वतत्त्वानां वन्दे सद्‌गुणलब्धये ।।

संवरतत्त्वकी व्याख्येयताका औचित्य—अष्टम अध्याय में बंध तत्त्व का वर्णन किया है। यह बंध अनादि संततिसे चला आया है और यह नवीन-नवीन जन्म मरण का कारण है और जन्म-जन्म में सुख-दु:ख का हेतुभूत है। ८ प्रकार की प्रकृति इनमें पड़ी हुई है और यह पुरुष के द्वारा की गई है अर्थात् यह जीव अपने भावों द्वारा उन कार्माणवर्गणावों को कर्मरूप स्वीकार करता है और ये सब कर्म-बंध समस्त आत्म प्रदेशों को व्यापने में समर्थ हैं। सर्व संकटों का मूल है, सो उस कर्मबंध में बारे में यह जिज्ञासा होती है कि ऐसा कर्मबंध किसी उपाय से किसी के अत्यन्त विनाश हो सकता है क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में सामान्यतया यही बताया जा सकता है कि कर्म से दूर होने के लिए प्रथम चाहिये वह उपाय कि जिससे नवीन कर्म न बंध सके। यदि पुराने कर्म किसी प्रकार तपश्चरण आदिक से खिराये जाते रहे और नवीन कर्म बँधते रहे तो उससे छुटकारा नहीं हो सकता। पहली बात यह जरूरी है कि वह उपाय बने जिससे ज्ञानावरण आदिक कर्म सम्बन्ध को प्राप्त न हो सकें। ऐसे उपाय लोक में भी किए जाते। जैसे नाव में पानी भर गया हो, नाव डूबने को हो तो चतुर खेवटिया नाव के पानी को उलीचते रहने की अपेक्षा सर्वप्रथम यह कार्य करता है कि नाव का छिद्र बंद कर देता है। उसके पश्चात् फिर वह पानी को उलीचता है तो नाव अच्छी तरह किनारे पहुँच जाती है, ऐसे ही इस जीव को इस संसार समुद्र के किनारे पहुँचना हो तो प्रथम यह आवश्यक है कि नवीन कर्म का आश्रव न होने पावे। तो नवीन कर्म का न होने देना इसी को सम्वर तत्व कहा गया है, इस ही सम्वर तत्व के विषय में सूत्र कहते हैं।

आस्रवनिरोध संवर:··············· ।।९-१।।

संवर का लक्षण—सम्वर के उपाय से संसार के संकटों का हटना बनता है। यह बात पहले कही गयी थी। उसी के विषय में यहाँ लक्षणात्मक सूत्र कहा गया है कि वह सम्वर क्या है ? उसका लक्षण बताया है कि आश्रव का रुक जाना सम्वर है याने कर्माणवर्गणावों का कर्म रूप न परिणमना यह सम्वर कहलाता है, अथवा बंध पदार्थ का पहले व्याख्यान किया ही था तो उसके बाद नम्बर सम्वर तत्त्व का आता है, इसलिए सम्वर तत्व का इस अध्याय में वर्णन किया जा रहा है। इसके साथ ही साथ इस अध्याय में निर्जरा तत्व का भी वर्णन चलेगा। तो सर्वप्रथम सम्वर तत्व की बात कही

गई है कि आश्रव का निरोध होना सम्वर है। अब आश्रव का निरोध क्या है ? तो कर्मो के आने का निमित्तभूत जो पहले प्रकार का भाव बताया गया था मन, वचन, काय का प्रयोग बताया गया है सो उस प्रकार का न हो पाना अर्थात् योग का न हो सकना, कषायों का न होना यह आश्रव निरोध कहलाता है आश्रव निरोध में पूरा कर्मों का निरोध हो जाय यह तो नहीं होता, पर जिसका जैसा विकास है उस विकास के अनुसार उसके आश्रव का निरोध चलता है। तो यदि आश्रव निरोध यह कहलाता है अर्थात् सम्वर कहलाता है तो फिर आश्रव निरोध का ही व्याख्यान करें। कहते हैं कि आश्रव निरोध पूर्वक सम्वर होता है, इसलिए सम्वर का कारणभूत रूप से यह विशेषण दिया गया है कि आश्रव का निरोध होने पर योग पूर्वक जो कर्म का आदान होता था सो आश्रव निरोध पूर्वक अब कर्म का ग्रहण न होना यह सम्वर कहलाता है। कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है इस कारण उस आश्रव के रुक जाने पर उस आश्रव पूर्वक जो अनेक दुःखों का जनक है, ऐसे कर्मों का न बनना सो सम्वर कहलाता है।

सूत्रार्थ के लक्ष्य—यहाँ शंकाकार कहता है कि यदि आश्रव निरोध सम्वर है, याने विकार न आना, कर्म न आना यह सम्वर कहलाता है तो उसी प्रकार निर्देश करना चाहिए जैसा कि अर्थ बताया गया है कि आश्रव निरोध होने पर सम्वर होता है, अथवा पंचमी अर्थ में कह लीजिए, आश्रव निरोध होने से सम्वर होता है। तो यहाँ प्रथम पद को या तो सप्तमी विभक्ति में कहते या पंचमी विभक्ति में कहते, इस शंका का उत्तर कहते हैं कि यहाँ कार्य में करने का उपचार किया गया है। कार्य तो है सम्वर और कारण है आश्रव निरोध, तो कार्य में कारण का उपचार करके इसको विशेषण विशेष्य बनाया गया है। यहाँ सम्वर शब्द करण साधन में हैं, और निरोध शब्द भी करण साधन में है अर्थात् जिस भाव के द्वारा रोका जाय उसे निरोध और जिस भाव के द्वारा सम्वरण किया जाय उसे सम्वर कहते हैं। इसी अध्याय में गुप्ति समिति आदिक भावों का वर्णन किया जाएगा, सो वह भाव सम्वर रूप है और आश्रव निरोध है तब ही वह सम्वर रूप कहलाता है, अथवा यहाँ दो वाक्य बना लेना चाहिए अर्थात् आश्रव निरोध हितार्थी पुरुष को करना चाहिए। उसका प्रयोजन क्या है कि उससे सम्वर होगा।

संवर के विशेष व संवरों का गुणस्थानानुसार पृथक्-पृथक् पद में पृथक्-पृथक् गणना का संकेत—सम्वर क्या चीज है ? मिथ्यादर्शन प्रत्ययों के कारण से जो कर्म आया करते थे उन कर्मों का संवरण हो जाना सम्वर कहलाता है। सम्वर दो प्रकार का है—(१) द्रव्य सम्वर और (२) भाव सम्वर। संसार के कारण भूत जो चेष्टायें हैं कषाय योग आदि उनकी निवृत्ति हो जाना भाव सम्वर है। जिन कारणों से जन्म धारण करना पड़ता है, उन को हटाना सो भाव सम्वर है अर्थात् शुद्ध भाव का होना अशुद्ध भाव का हटना, ऐसा जो आत्मा का शुद्ध परिणाम है सो भाव सम्वर कहलाता है। भाव सम्वर के होने पर अर्थात् भावास्रवका निरोध होने पर पुद्गल कर्म के ग्रहण का हट जाना सो द्रव्य सम्वर है। नवीन पुद्गल कर्म कैसे न बँधे, कैसे वे हटें उसका कारण है भाव सम्वर। इन सम्वरों को गुणस्थान के क्रम से लेना चाहिए। किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सम्वर होता है उसका कथन करणानुयोग में किया गया है। बंध की निवृत्ति हो जाना अथवा सम्वर हो जाना दोनों का एक अर्थ है। बंधव्युच्छिति का ही नाम सम्वर है। ये गुणस्थान १४ प्रकार के होते हैं, इस नाम को सुनने से पहले यह जानना चाहिए कि गुणस्थानों के नाम सम्यक्त्व और चारित्र गुणों की अवस्था से बने हैं, कहीं सम्यक्त्व नहीं है, कहीं सम्यक्त्व दोषवान है, कहीं सम्यक्त्व निर्मल है, कहीं चारित्र थोड़ा है, कहीं विशेष कहीं पूर्णता है, इन कारणों से ये गुणस्थान बताये गए हैं। इस गुणस्थान के नामकरण में दर्शनमोह चारित्रमोह और योग के ये तीन कारण कहे गए हैं।

सम्यक्त्वरहित गुणस्थानों का स्वरूप—पहले गुणस्थान का नाम है मिथ्यादृष्टि। यहाँ दर्शन मोह की प्रकृष्ट शक्ति वाला मिथात्व कर्म प्रकृति का उदय है। दूसरा भेद है सासादन सम्यग्दृष्टि इस गुणस्थान में दर्शनमोह का न तो उदय है, न उपशम है, न क्षय है न क्षयोपशम है किन्तु अनन्तानुबंधी कषायका उदय है और इस कषाय के उदय के कारण यह अज्ञानदशा रहती है और तीनों अज्ञान इस अनन्तानुबंधी कषाय के उदय में बनते हैं, सो इनको दर्शनमोह की अपेक्षा पारिणामिक स्वरूप कहा गया है, किन्तु जो मलिनता है वह अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से है। तीसरे गुणस्थान का नाम है सम्यग्मिथ्या दृष्टि, जहाँ सम्यग्मिथात्व प्रकृति का उदय है। यह शिथिल प्रकृति है जो क्षयोपशम रूप में है, इसका उदय होने पर भी तो गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव माना जाता है। इन प्रकृतियों के उदय से जीव के न तो सम्यक्त्व होता है और न मिथ्यात्व होता है किन्तु एक तीसरे प्रकार की ही परिणति होती है। जैसे दही शक्कर मिलाने पर न खालिस दही का स्वाद रहता न शक्कर का किन्तु कोई तीसरी दशा ही हो जाती है।।

असंयत सम्यग्दृष्टि व संयतासंयत गुणस्थान का स्वरूप—चौथे गुणस्थान का नाम है असंयत सम्यग्दृष्टि, अर्थात् जहाँ संयम तो नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन है, इसे कहते हैं असंयत सम्यग्दृष्टि। सम्यक्त्व तो इस कारण हो गया है कि वहाँ सम्यक्त्वघातक, ७प्रकृतियों का उपशम है, किसी के क्षयोपशम है, किसी के क्षय है सो जिसके उपशम है उसके तो औपशमिक सम्यक्त्व है, जिसके क्षयोपशम है उसके क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है, जिनके इन ७ का क्षय है उनके क्षायिकसम्यक्त्व है। तो यों सम्यक्त्व से युक्त होता हुआ यह जीव चारित्र मोहनीय के उदय से अविरत परिणाम वाला रहता है। किसी पाप से अभिसन्धिपूर्वक मन के दृढ़ संकल्पपूर्वक त्याग नहीं किया गया। ऐसी स्थिति रहती है उसे असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इस गुणस्थान में तीनों ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि तत्त्वार्थ का श्रद्धान इसमें किया है। अब इस गुणस्थान से ऊपर के जितने गुणस्थान हैं उनमें भी नियम से सम्यक्त्व जानना चाहिए। अब इस आत्मा के जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम हो जाता है तब अणुव्रत का परिणाम होता है, सो यहाँ अन्य कषायों का उदय चल रहा है और अप्रत्यख्यानावरण का क्षयोपशम चल रहा है, ऐसी स्थिति में कुछ संयम है कुछ असंयम है, सो ऐसी कर्म स्थिति होने पर संयमासंयम की प्राप्ति होती है यहाँ प्राणी इन्द्रिय विषयविरति और अविरति दोनों ही वृत्तियों से परिणम रहे हैं कुछ विरक्त हैं, कुछ विरक्त नहीं हैं ऐसा जिनको संयमासंयम गुणस्थान है वे कुछ मोक्ष मार्ग में आये हैं। परमार्थतः देखा जाय तो चौथे गुणस्थान में मार्ग दर्शन होता है। तो जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है और स्वाभाविक पद क्या है? अब जहाँ कषायें मंद होने लगें, चारित्र मोह घटने लगे वहाँ अब यह मोक्ष मार्ग पर कदम बढ़ाता है।

प्रमत्तविरत व अप्रमत्तविरतका स्वरूप—जिस आत्मा के प्रत्याख्यानावरण का भी क्षयोपशम हो गया है उसके महाव्रत का उदय होता है। यहाँ अप्रत्याख्यानावरण कषाय और प्रत्याख्यानावरण कषाय इन ८ कषायों का क्षयोपशम है। अनन्तानुबंधी कषायें क्षीण हुई हों तो, न हुई हों तो, किन्तु उदय में न आ रही हों ऐसी स्थिति रहती है। अब यहाँ यह विवेकी संत व्रत करता हुआ पाप से बचा रहता है और समय-समय पर आत्म स्वरूप के ध्यान में लीन रहता है सो यह सकल संयमी जीव यदि कुछ प्रमाद अवस्था में है तब तो यह प्रमत्त संयत कहलाता है अर्थात् उपदेश दे रहा हो, प्रायश्चित दे रहा हो, शिक्षा दे रहा हो, विहार कर रहा हो, आहार कर रहा हो, ऐसी प्रमाद अवस्था में हो तो उसे प्रमाद-

विरत कहते हैं। यहाँ प्रमाद का अर्थ आलस्य न लेना। किन्तु मोक्ष के मार्ग में तीव्र उत्साह न होना यही प्रमाद कहलाता है। यह जीव जब संज्वलन कषाय के मंदउदय को प्राप्त होता है तो उसके उदय से यहाँ प्रमाद नहीं रहता। तब इसका नाम अप्रमत्त संयत्त है। इस ७वें गुणस्थान में प्रमाद न रहा और इस गुणस्थान से ऊपर जितने भी गुणस्थान हैं उन सब में भी प्रमाद नहीं है तो वह कहलाता है अप्रमत्त-संयत्त। ये अप्रमत्त संयत सप्तम गुणस्थान वाले दो प्रकार के होते हैं। (१) स्वस्थान संयत और (२) सातिशय संयत। स्वस्थान अप्रमत्तविरत तो वे कहलाते हैं जो सप्तम गुणस्थान में हैं और आगे न बढ़ सकेंगे। छठे गुणस्थान में आयेंगे, फिर ७वें गुणस्थान में आयेंगे, यों ७वें और छठे गुणस्थान में झूले की तरह झूलते हुए अप्रमत्त संयत जब-जब ७वें गुणस्थान में होते हैं तब-तब वे स्वस्थान अप्रमत्त विरत कहलाते हैं। ये ही मुनीश्वर जिस समय ऐसे सप्तम गुणस्थान को प्राप्त करते हैं कि जहाँ परिणामों की विशुद्धि अनन्त गुणी बढ़ जाय, अधःकरण नाम का परिणाम प्राप्त हो जाय, जिसके कारण अब यह ऊपर श्रेणी पर चढ़ेगा। तो ऐसी श्रेणी पर चढ़ सकने वाले अधःप्रवृत्तकरण परिणाम वाले जीव सातिशय अप्रमत्तविरत कहलाते हैं।

सातिशय अप्रमत्तविरत की विशेषतायें एवं ऊपर के श्रेणी वाले गुणस्थानों का स्वरूप—यदि सातिशय अप्रमत्त संयत ने चारित्रमोहकर्म के उपशम करने के लिए अधःप्रवृत्त करण परिणाम किया है तो उस ही पद्धति में परिणामों की विशुद्धि बढ़ेगी और यह उपशम श्रेणी पर चढ़ेगा। जब इसके अधःप्रवृत्तकरण है तो सातिशय अप्रमत्त विरत कहलाता है और जब अपूर्वकरण परिणाम होगा तो यह अष्टम गुणस्थान वाला कहलायेगा। जब अनिवृत्तिकरण परिणाम होगा तब यह नवम गुणस्थानवर्ती कहलायेगा। यहाँ यदि चारित्रमोह का क्षय करने के लिए इस सातिशय अप्रमत्त विरत ने अधःकरण परिणाम किया है तो उस ही पद्धति में इसके परिणाम बढ़ेंगे, सो जब यह अपूर्वकरण परिणाम करता है तब क्षपक श्रेणी का ८वें गुणस्थान में आया हुआ कहा जाता। जब अनिवृत्तिकरण परिणाम करते हैं तब क्षपक श्रेणी के ९वें गुणस्थान में आये हुए कहलाते हैं, सो अभी ८वें गुणस्थान में किसी भी कर्म प्रकृति का न तो उपशम होता है और न क्षय होता है। उपशम प्रारम्भ होगा ९वें गुणस्थान में, उपशम श्रेणी में। चारित्रमोह की प्रकृतियों का क्षय प्रारम्भ होगा क्षपक श्रेणी ९वें गुणस्थान में, लेकिन उपशमन और क्षय करने के लिए ही इसने यह परिणाम किया है अतः पहले से ही यह जीव उपशमक अथवा क्षपण कहलाता है। ८वें गुणस्थान के बाद अनिवृत्तिकरण परिणाम होने से यह नवम गुणस्थान में पहुँचता है। उपशम श्रेणी हो तो यह उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाला कहलाता है और यदि क्षय हो तो क्षपक अनिवृत्तिकरण वाला कहलाता है। यही जीव जब सूक्ष्म भाव से उपशमन करता है अथवा क्षपणे करता है तो यह सूक्ष्म साम्पराय कहलाता है। यह भी दोनों श्रेणियों में पाया जाता है—सूक्ष्म साम्पराय में बताया तो यह गया है कि यहाँ संज्वलन लोभ है, किन्तु चारित्र के प्रकरण से यह जानना चाहिए कि उस बचे हुए संज्वलन लोभ का उपशमन होने से वह उपशम श्रेणी का दसवाँ गुणस्थान कहलाता है, और संज्वलन लोभ के क्षय के लिए चारित्र होने से क्षपक श्रेणी का १०वाँ गुणस्थान कहलाता है।

वीतराग छद्मस्थ व वीतरागसर्वज्ञ के गुणस्थानों का निर्देश—जिसके सूक्ष्म संज्वलन लोभ का भी उपशम हो गया वह तो कहलाता है उपशान्त कषाय और जिसके संज्वलन लोभ का क्षय हो गया है वह कहलाता है क्षीण कषाय। ये दोनों ही वीतराग हैं। यहाँ चारित्रमोह रंच भी न रहा, और और ये पवित्र आत्मा हैं, किन्तु अभी सर्व ज्ञान न होने से ये परमात्मा नहीं कहलाते हैं, सर्वज्ञता होने पर

ही परमात्मा कहलाते हैं। क्षीण कषाय गुणस्थान में शेष बचे हुए घातिया कर्मों का सत्व विच्छेद हो जाता है, सो यह आत्मा संयोग केवली हो जाता है। घातिया कर्मों के अत्यन्त विनाश से स्वाभाविक अचिन्त्य केवल ज्ञानादिक उत्कृष्ट विभूतियाँ उत्पन्न होती हैं अतएव ये भगवान केवली कहलाते हैं। ये केवली भी दो प्रकार के हैं, जिनके योग का सद्भाव है वे हैं सयोगकेवली, जिनके योग का अभाव हुआ है वे हैं अयोगकेवली। सयोगकेवली के समवशरण भी होता दिव्यध्वनि भी खिरती किन्हीं के नहीं भी होता और अन्त में अयोगकेवली होकर शेष अघातियाँ कर्मों का भी नाश करके मुक्त हो जाता है।

सम्यक्त्व लाभ के लिये अथाप्रवृत्तकरण को प्राप्त करने के अधिकारी भव्य मिथ्या दृष्टि का परिचय—यह जीव अनादि काल के मिथ्यात्व गुणस्थान में रहा आया, सो मोहनीय कर्म की २६ प्रकृतियों की ही सत्ता रही आयी, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन दो का बंध नहीं होता। सो यों २६ प्रकृतियों की सत्ता वाले अनादि मिथ्या दृष्टि भव्य जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करेंगे अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं। इस सादि मिथ्यादृष्टि जीव में कुछ तो २८ मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के सत्त्व वाले जीव और कुछ २७ मोहनीय प्रकृतियों की सत्ता वाले और कुछ २६ मोहनीय प्रकृतियों की सत्ता वाले होते हैं सो ये चारों तरह के जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने का आरम्भ जब करते हैं तो पहली बात यह है कि उनके शुभ परिणाम होते हैं और अन्तर्मुहूर्त तक उनके विशुद्धि अनन्त गुनी बढ़ती चली जाती है। अब यह जीव चार मनोयोग में से किसी भी मनोयोग में हो, या चार वचन योग में से किसी भी वचन योग में हो और औदारिक व वैक्रियक इन काय योग में से किसी भी काय योग में हो, इस तरह किसी एक योग में वर्तता हुआ वह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व का आरम्भ करता है और वह क्षीयमाण कषाय वाला होता है। तीनों वेदों में से किसी भी वेद से रहता हो संक्लेश नहीं हो, उसके शुभ परिणाम बढ़ते रहते हों, उसके प्रताप से समस्त कर्म प्रकृतियों की स्थितियों को घटाता है। अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग बंध को हटाता है, शुभ प्रकृतियों के रस को बढ़ाता है, ऐसा यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व के लिए आवश्यक तीन करणों को करने के लिये प्रवृत्त होता है।

अथाप्रवृत्तकरण का परिचय—सम्यक्त्व के साधकतम तीन करण हैं अथाप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन तीनों करणों का समय प्रत्येक का अन्तर्मुहूर्त है और तीनों का मिलकर भी अन्तर्मुहूर्त है। अथाप्रवृत्तिकरण के मायने यह हैं कि अब तक ऐसा करण कभी मिला नहीं। इसका दूसरा नाम अधःकरण भी है, जिसका अर्थ यह है कि कुछ ऊपर के समय वाले साधकों के परिणाम नीचे के समय वाले साधकों से मिल जाते हैं, सो प्रथम ही अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति प्रमाण कर्म को करके अथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में प्रवेश करता है। उसके कर्मों की स्थिति का भार अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर से अधिक नहीं होता। इस प्रथम करण के प्रथम समय में जघन्य विशुद्धि थोड़ी है, दूसरे समय में जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी है, तीसरे समय में जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी है, इस तरह से अनन्त गुणी विशुद्धि बढ़-बढ़कर अन्तर्मुहूर्त तक यह बढ़ता चला जाता है। तो उस खण्ड के अन्तिम समय में जो जघन्य विशुद्धि जितनी अधिक है उससे प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है, दूसरे समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। इस प्रकार अथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय तक अनन्त अनन्तगुणी होती चली जाती है। इस प्रकार यह जीव इसके परिणाम नाना जीवों की

अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम के भेद कहीं समान हैं कहीं असमान। उन सब परिणामों के समूह का नाम अधःप्रवृत्तकरण है अथवा अथाप्रवृत्तकरण है।

अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण का परिचय—अब इस प्रथम करण के बाद दूसरा करण किया जाता है अपूर्वकरण। इसके प्रथम समय में जघन्य विशुद्धि थोड़ी है और उस ही प्रथम समयवर्ती जीव की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी है, फिर द्वितीय समय में जघन्य विशुद्धि उससे अनन्त गुणी है और उस ही की उत्कृष्ट विशुद्धि उससे अनन्त गुणी है। इस प्रकार अगले-अगले समय में जघन्य से उत्कृष्ट, उत्कृष्ट से अगले समय में जघन्य अनन्तगुणी, अनन्तगुणी होती जाती है, अधःकरण में तो निवर्गणाके सभी समयों की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी होती गई थी, फिर उत्कृष्ट विशुद्धि चली थी। इसी कारण तो अगले समय के परिणाम निचले समय में मिल जाया करते थे, किन्तु अपूर्वकरण में उसी समय की जघन्य विशुद्धि से उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी हुई है और उससे अगले समय की जघन्य विशुद्धि बढ़ी है तब ही अगले समय समय के परिणाम नियमित समय में न मिलेंगे। यह अपूर्वकरण परिणाम भी नाना जीवों की अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण है, ऐसे परिणाम के विकल्प हैं जो नियम से भिन्न-भिन्न समय में असमान ही मिलेंगे। उन सब परिणामों के समुदाय का नाम है अपूर्वकरण। ये अत्यन्त अपूर्व परिणाम हैं इस कारण इनका नाम अपूर्वकरण सार्थक है। अपूर्वकरण के पश्चात् तीसरा करण लगता है जिसका नाम है अनिवृत्तिकरण। उसके काल में नाना जीवों के प्रथम समय में परिणाम एक स्वरूप ही हो सकें अर्थात् अनिवृत्तिकरण के पहले समय में जितने भी साधक हैं सबके परिणाम एक समान ही हैं। दूसरे समय में पहले समय वाले परिणाम से अनन्तगुणी विशुद्धि की है, लेकिन दूसरे समय में भी नाना जीवों के परिणाम एक रूप ही हैं इस तरह अन्तर्मुहूर्त तक यह अनिवृत्तिकरण परिणामभी चलता है। उन ही परिणामों के समुदाय का नाम अनिवृत्तिकरण है। इसका अनिवृत्तिकरण नाम क्यों रखा? अ मायने नहीं, निवृत्ति मायने हटना अर्थात् जहाँ उस ही समय में एक दूसरे के परिणाम से भिन्न याने हटे हुए अर्थात् असमान नहीं होते उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

अथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण की महिमा—उक्त तीन तरह के करण परिणामों का बहुत माहात्म्य है जिससे आत्मा का स्वाभाविक कार्य बनता है, विकसित होता है। पहले करण में यद्यपि स्थिति खण्डित नहीं है जिससे कि जो स्थिति बँधी है उसके भी टुकड़े हो जायें, स्थिति कम हो जाय सो बात नहीं बनती। यहाँ अनुभाग भी खण्डित नहीं होता है कि कर्मों में जो अनुभाग शक्ति है वह फलदान शक्ति भी खण्डित हो जाय। यहाँ गुण श्रेणी भी नहीं है कि परिणाम अथवा कोई निर्जरा आदिक गुण श्रेणी के अनुसार होते चले जायें। यहाँ गुण संकरण भी नहीं है कि किसी प्रकृति का गुण बदल जाय और अन्य रूप हो जाय, तथापि अनन्त गुणवृद्धि से विशुद्धि बढ़ती चली जाती है और उसके प्रताप से अब जो पाप प्रकृतियाँ बनती हैं सो वे अनन्तगुणी कम अनुभाग वाली बनती हैं और जो शुभ प्रकृतियाँ बँधती हैं वे अनन्त गुण रस से बढ़-बढ़कर बनती हैं और नया जो स्थिति बंध होता है वह पल्य के संख्यात भाग कम-कम होती है, तो इस प्रथम परिणाम में भी इस जीव का बहुत बड़ा कार्य बनता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण स्थिति खण्डन, अनुभाग खण्डन, गुणश्रेणी और गुण संक्रमण ये होते हैं और साथही स्थिति बंध भी क्रम से घटता जाता है। जो खोटी प्रकृतियाँ हैं उनका अनुभाग बंध तो अनन्त गुणा घटता है और जो शुभ प्रकृतियाँ हैं उनका अनुभाग

अनन्त गुना बढ़ता है। इस तरह अनिवृत्तिकरण के काल में जब संख्यात भाग व्यतीत हो जाते हैं तब अन्तरकरण होता है। जैसे कोई वकील दस लक्षण के दिनों में कचहरी नहीं जाना चाहता और यह विचार में बाद बना जबकि दस लक्षण के दिनों में तारीखें लग चुकी थीं, तो वह ऐसा पुरुषार्थ करता है कि दस लक्षण के दिनों में आयी हुई केस की तारीखें कुछ दिन पूर्व से ही सावन भर में या आधे भादों तक में करवा लेता है और कुछ दस लक्षण के दिनों के बाद असौज के महीने में करवा लेता है, ताकि वह निःशल्य होकर दस लक्षण में धर्म साधना कर सके। तो ऐसे ही मिथ्यात्वप्रकृति और अनन्तानुबंधी कषाय इनकी सत्ता लगातार बराबर है, अब बीच में जिस समय औपशमिक सम्यक्त्व होना है तो वहाँ यह आवश्यक होता उपशम सम्यक्त्व में कि उस समय की स्थिति वाले कर्म ही न रहें। यह भी कितने बड़े पौरुष की बात है कि उससे पहले की सत्ता में रहे, उसके बाद की सत्ता में रहे और एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उसकी सत्ता ही न रहे याने उस समय की स्थिति वाले न रहे कर्म, जो सम्यक्त्व का घात करते हैं। तो इन दशावों का नाम है अन्तरकरण। इस अन्तरकरण के कारण मिथ्यादर्शन कर्म प्रकृति का उदय घात कर दिया जाता है और इस अनिवृत्तिकरण की चरम सीमा में मिथ्यात्व प्रकृति सत्ता में आ पड़ी, तीन टुकड़ों में हो जाता है (१) सम्यक्त्व (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यक् प्रकृति। सो इन तीन प्रकृतियों के और अनन्तानुबंधी क्रोध, मन, माया, लोभ इन कषायों की ७ प्रकृतियों का उदय न होने पर अन्तर्मुहूर्त तक प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है।

सासादनसम्यक्त्व नामक द्वितीय गुणस्थान का परिचय—प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव जब मिथ्यात्व का उदय तो न आये और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक का उदय आ जाय तो सासादन सम्यक्त्व होता है। इस सासादन सम्यक्त्व का अर्थ क्या है। स मायने सहित, असादन मायने विघात। जहाँ सम्यक्त्व का विघात हो गया, पर अभी मिथ्यात्व का उदय नहीं आ पाया उसे कहते हैं सासादन सम्यक्त्व। इस दूसरे गुणस्थान में भी यद्यपि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय नहीं है तथापि अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से मति, श्रुत, अवधि ये तीनों ज्ञान अज्ञान रूप हो जाते हैं और इसी कारण से तो चार कषायों का नाम अनन्तानुबंधी पड़ा है। अनन्त का अर्थ है मिथ्यादर्शन, उसका जो सम्बंध बनावे उसे कहते हैं अनन्तानुबंधी। यह कषाय मिथ्यादर्शन के उदय रूप फल को उत्पन्न करता है अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय होने से मिथ्यात्व उदय में आ जाता है, और यह बहुत ही जल्दी मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रवेश करता है। सासादन सम्यक्त्व का समय कम से कम एक समय है, अधिक से अधिक ६ आवली प्रमाण है, यह अत्यन्त अधिक कम समय है, जैसे कोई बालक या पुरुष छत से गिर जाय और जमीन पर नहीं आ पाया, ऐसा समय कितना होता ? थोड़ा तो यों ही सम्यक्त्व रूपी रत्न पर्वत के शिखर से कोई जीव गिरा और मिथ्यात्व भूमि में आता है तो उसके बीच की स्थिति ६ आवली से अधिक नहीं बनती, और इस प्रकार वह मिथ्यात्व आ जाता है मिथ्यात्व गुणस्थान दूसरे गुणस्थान के बाद भी होता, तीसरे गुणस्थान के बाद भी होता। चौथे, ५वें, ७वें के बाद भी होता, किन्तु सासादन सम्यक्त्व प्रथमोपशम सम्यक्त्व के बाद ही होता। तो जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व से च्युत होता है, वहाँ अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से ही च्युत होता है और इस ही कषाय के उदय में दूसरा गुणस्थान हुआ। अब यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व चाहे अणुव्रत रहित हो तो चौथे गुणस्थान से बना, अणुव्रत सहित हो तो पंचम गुणस्थान से बना, महाव्रत सहित हो तो सप्तम गुणस्थान

से बना, पर मिथ्यात्व के बाद सासादन सम्यक्त्व नहीं हुआ करता। सम्यक्त्व से गिरते समय ही सासादन सम्यक्त्व होता है।

सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का परिचय—सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व के बाद भी होता परन्तु अनादि मिथ्या दृष्टि के मिथ्यात्व के बाद नहीं होता। इसका कारण यह है कि जिसको एक बार उपशम सम्यक्त्व हो जिसके बल से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति बने, मिथ्यात्व के टुकड़े होकर तो जिसके सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता होगी वह यद्यपि मिथ्यात्व गुणस्थान में आ गया फिर भी जिसके सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता है वह पहले गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आ जाता और इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व की सत्ता सम्यग्दृष्टि के भी है जिसके उपशम सम्यक्त्व है, क्षयोपशम सम्यक्त्व है। तो सम्यग्मिथ्यात्व की सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाय तो वह तीसरे गुणस्थान में आ जाता है। यह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति शिथिल प्रकृति है। क्षयोपशम के सदृश प्रकृति है इस कारण लोग तीसरे गुणस्थान को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं, पर परमार्थ से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने के कारण औदयिक है।

सम्यक्त्व के प्रकारों का परिचय—सम्यग्दर्शन ५ प्रकारों में निरखा जाता है। (१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व, (२) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, (३) वेदक सम्यक्त्व, (४) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और (५) क्षायिक सम्यक्त्व, मिथ्यात्व गुणस्थान के बाद होने वाले उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के बाद होने वाले उपशम सम्यक्त्व को द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपशम श्रेणी में चढ़ने के अभिमुख आत्मा के होता है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला भी उपशम श्रेणी पर चढ़ता है किन्तु उसका सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता, पर द्वितीयोपशम सम्यक्त्व से उपशम श्रेणी में चढ़े तो उसके द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नष्ट होगा ही। तीसरा है वेदक सम्यक्त्व। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन ६ प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और इन ही आगामी उदय में आ सकने वाली वर्गणावों का सदवस्था रूप उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर वेदक सम्यक्त्व होता है। वेदक सम्यक्त्व में चल मलिन अगाढ़ दोष बना करता है, और यही वेदक सम्यक्त्व जब क्षायिक सम्यक्त्व रूप में होने को हो तो इसका उदय हट जाता है और यह सम्यक्त्व प्रकृति उदय में नहीं रहती, सो वेदक तो रहा नहीं, क्षयोपशम मौजूद है, तो इस स्थिति को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। सामान्यतया लोग वेदक सम्यक्त्व में और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में भेद नहीं डालते, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से यह भेद है। और जब सम्यक्त्व घातक सातों प्रकृतियों का क्षय हो जाता है तो वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। सो चतुर्थ गुणस्थान में कोई सा भी सम्यक्त्व सम्भव है, पर द्वितीयोपशम सम्यक्त्व ऊपर से गिरता हुआ चौथे में आकर रहता है। इस तरह इस चतुर्थ गुणस्थान में नियम से सम्यक्त्व है और इससे ऊपर के गुणस्थानों में भी नियम से सम्यक्त्व पाया जाता है।

संयमासंयम की भूमिका—पंचम गुणस्थान का नाम है संयतासंयत। इन्द्रिय विषय और प्राण विराधन इन दोनों के संबंध में कुछ विरति परिणाम कुछ अविरति परिणाम जिसके होते हैं उसे संयतासंयत कहते हैं। याने इन्द्रिय विषयों से कुछ विरक्त हैं कुछ नहीं है। इसी तरह ६काय के जीवों की हिंसा में से कुछ से विरतिहै कुछ से नहीं है ऐसे परिणाम जहाँ होते हैं उसको पंचम गुणस्थान कहते

हैं। यह संयमासंयमका परिणाम चारित्र मोह के क्षयोपक्षम से होता है, जिसके क्षायिक सम्यक्त्व है अथवा विसंयोजन हुआ है उसके अनन्तानुबंधी कषाय तो है ही नहीं, जिसके क्षायक सम्यक्त्व नहीं है उसके अनन्तानुबंधी कषाय है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय तो यहां है ही, सो इन ८ प्रकृतियों के उदयक्षय से इन्हीं के उपशम से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से संयमलब्धि तो नहीं है किन्तु कुछ संयम और कुछ असंयम रूप परिणाम है। यहां संज्वलनकषाय और ९ नोकषाय इन देशघाती प्रकृतियों का भी उदय है, और ऐसी स्थिति में संयमासंयमलब्धि होती है और उसके योग्य प्राणि विषयक और इन्द्रिय विषयक विरति और अविरति से, यह जीव परिणत होता है।

संयम के गुण स्थानों का प्रारम्भ—छठे गुण स्थान का नाम है प्रमत्तविरत जहां संयम तो प्राप्त हो गया है किन्तु प्रमाद है उसे प्रमत्त संयत कहते हैं। जिस जीव के क्षायिक सम्यक्त्व है उसके अनन्तानुबंधी कषाय नहीं है, पर जिसके क्षायक सम्यक्त्व नहीं है उसके अनन्तानुबंधी कषाय है। छठे गुण स्थान में क्या, तीसरे गुण स्थान से ही अनन्तानुबंधी कषाय का विपाक न होने पर सत्ता में रहता है सो यहां अप्रत्याख्यानावरण ओर प्रत्याख्यानावरण इन ८ कषायों के उदयाभावी क्षय से और इन्हीं ८ कषायों के उपशम से और संज्वलन नो कषायों के उदय से संयमलब्धि होती है। अनन्तानुबंधी कषाय का भी यहाँ विसंयोजन अथवा उदयाभावी क्षय है। इस प्रकार की स्थिति से यह संयम उत्पन्न होता है। यहां किसी भी प्रकार की अविरति नहीं रहती इन्द्रिय विषयों से और मन के विषयों से पूर्ण विरक्ति है, और ६काय के जीवों की हिंसा से पूर्ण विरक्ति है। यहां यह जीव संयम के उपयोग को अंगीकार करता रहा है फिर भी १६ प्रकार के प्रमाद के कारण चारित्र परिणाम में थोड़ा स्खलन चलता है, ऐसे जीव को प्रमत्त संयत जीव कहते हैं। १५ प्रकार के प्रमाद ये हैं। ४ विकथायें—(१) स्त्रीकथा (२) राजकथा (३) देश कथा और (४) भोजन कथा। ४ कषायें—क्रोध, मान, माया, लोभ; ५ इन्द्रिय के विषय, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द का विषय और निद्रा एवं स्नेह, इन १५ प्रकार के प्रमादों के वशीभूत होकर यह छठे गुण स्थानवर्ती जीव संयम से कुछ स्खलित हो जाता है किन्तु पूर्ण स्खलन नहीं होता। उसमें दोष आते रहते हैं। कोई भी मुनि छठे गुण स्थान में अधिक समय नहीं रहता, ६ठे से ७वें गुण स्थान में ७वें से छठें गुण स्थान में यों हिंडोले की तरह इसमें जीव झूलता रहता है। ७ वें गुण स्थान का नाम है अप्रमत्त संयत। संयम तो इसका पूर्ण है अर्थात् १२ कषायों का उदय नहीं है और साथ ही जो प्रमाद छठे गुण स्थान में रहता था वह भी नहीं है इस कारण इस गुण स्थान वाले आत्मा के संयमवृत्ति अचलित होती है। इसी को अप्रमत्त संयत कहते हैं। ७वें गुण स्थान में दो प्रकार के मुनि हैं (१) स्वस्थान संयत (२) सातिशय संयत। स्वस्थान संयत वह कहलाता है जो इस गुण स्थान से ऊपर न बढ़ सकेगा, और छठें गुणस्थान में आयगा सातिशय संयत वह कहलाता हैं जिसके अधःकरण परिणाम हुआ है, श्रेणी पर चढ़ने के लिए। यह श्रेणी चढ़ेगा ही।

सप्तम गुण स्थान से ऊपर द्विविध श्रेणियों के चार गुण स्थान—सप्तम गुणस्थान से ऊपर चार गुण स्थानों में दो श्रेणियां होती हैं—८वां, ९वां, १०वां, ११वां गुणस्थान उपशम श्रेणी के हैं। ८वां ९वां, १०वां, १२वां गुणस्थान क्षपक श्रेणी के हैं, तो जहां मोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ आत्मा चढ़ता है वह उपशमक श्रेणी कहलाती है और जहां मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ चढ़ता है उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं। यहां चारित्र मोहनीयका क्षय होता है। उपशम श्रेणी में चारित्र मोह का उपशम होता है, ऐसे इस गुणस्थान से ऊपर ८वां गुणस्थान अपूर्वकरण नाम का है। जो जीव चारित्र मोह के

उपशम के लिए अधःकरण परिणाम करते हैं वे उपशम श्रेणी के ८वें गुणस्थान में पहुँचते हैं और जो चारित्र मोह के क्षय के लिए अधःकरण परिणाम मारते हैं वे क्षपक श्रेणी के ८ वें गुणस्थान में पहुँचते हैं। सो यद्यपि जहां किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नहीं होता तो भी अपूर्व विशुद्धि के वश से चारित्र मोह का उपशम या क्षय करेगा, इस अपेक्षा से यहां ८वें गुणस्थान में उसे उपशमक व क्षपक कहा गया है। सो यह उपशमक व क्षपक नाम उपचार से है, ८वें गुणस्थान से ऊपर चढ़कर यह भव्य ९वें गुणस्थान में पहुँचता है, ८वें गुणस्थान में अपूर्वकरण नाम का परिणाम था। अब इसके अनवृत्तिकरण परिणाम हुआ है। इस गुणस्थान में बढ़ी हुई विशुद्धि के कारण कर्मप्रकृतियों का स्थूल भाव से उपशम करने वाला अथवा क्षय करने वाला होता है। जो जीव चारित्र मोह के उपशम के लिए चढ़ा है वह कर्मप्रकृतियों का यहां उपशम करता है। जो चारित्र मोह के क्षय के लिए चढ़ा है वह यहां कर्मप्रकृतियों का क्षय करता है। किन प्रकृतियों का यह उपशम करता है अथवा क्षय करता है सो अभी ही आगे सम्वरका प्रसंग लेकर कहा जायगा। ९वें गुणस्थान से ऊपर यह भव्य १०वें गुणस्थान में पहुँचता है। उपशम श्रेणी वाला जीव सूक्ष्म साम्पराय उपशमक कहलाता है। वह यहां कषायों का सूक्ष्म दृष्टि से उपशम करता है, अन्त तक पूर्ण उपशम हो जाता है जो जीव क्षपक श्रेणी में है वह सूक्ष्म साम्पराय क्षपक कहलाता है। यह उस गुणस्थान में रही सही संज्वलन लोभ कषाय का क्षय करता है और अन्त में पूर्ण क्षय हो जाता है। अब यहां से उपशम श्रेणी वाले सूक्ष्म साम्पराय उपशम सर्व मोहनीय के उपशम होने के कारण ११वें गुणस्थान में पहुँचता है जिसका नाम है उपशान्त कषाय। उपशान्त कषाय गुणस्थान की अवधि है अन्तर्मुहूर्त; इतने समय तक मोहनीय कर्म का उपशम रहता है। समय पूर्ण होने पर उसका उदय आने लगता है अतएव वहां से ११वें गुणस्थान में पहुँचता है, यदि कोई उपशान्त कषाय गुणस्थान वाला मुनि मरण को प्राप्त हो जाय तो वह एकदम चतुर्थ गुणस्थान में आता और देव गति को प्राप्त होता है, जो जीव क्षपक श्रेणी में है वह क्षीण कषाय नामक १२वें गुणस्थान में पहुँचता है।

परमात्मत्व की परम भूमिका—क्षीण कषाय गुणस्थान के अन्त व उपान्त समय में कितनी ही प्रकृतियों का बंध रूक जाता है याने १३ वें गुणस्थान में जितना सम्वर है वे प्रकृतियां क्षीण कषाय के अन्त में हट जाती हैं, इनका भी वर्णन आगे किया जायगा। १२वें गुणस्थानवर्ती जीव यहां घातिया कर्मों का क्षय करता है और उन घातिया कर्मो के क्षय से अतुल ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, उसे कहते हैं केवली। वहां अचितय केवल दर्शन, केवल ज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति का अतिशय प्रकट होता है। ये केवली दो प्रकार के होते हैं—(१) सयोग केवली और (२) अयोग केवली याने एक योग सहित केवली और एक योग रहित केवली। ये १३वें गुणस्थान वाले हैं। १३वें गुणस्थान का समय पूर्ण होने पर योगरहित होने से ये १४वें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली हो जाते हैं। अयोग केवली शेष बचे हुए समस्त अघातिया कर्मों का क्षय करके अशरीर सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं। देखिये—यह सम्वर का प्रकरण चल रहा है। सम्वर तत्व में मुख्य भाव सम्वर ग्रहण करना, जहां शुभोपयोग, अशुभोपयोग दूर होता है, अथवा आंशिक शुद्धि जगती है, उस भाव को भाव सम्वर कहते हैं और भाव सम्वर के साथ ही कर्म का आश्रव भी रुकता है वह द्रव्य सम्वर कहलाता है।

मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय के विपाक में होने वाले असंयम से रहित भूमिका में संवर का विवरण—सम्वर तत्व को समझने के लिए कुञ्जी रूप यह जानना कि जिन-जिन भावों के कारण जिन-जिन कर्म प्रकृतियों का आश्रव होता था उन-उन भावों का आश्रव होने पर उन-उन प्रकृतियों का

आश्रव रुक जाता है । आश्रव के निरोध का ही नाम सम्वर है, तो सर्वप्रथम यह समझिये कि मिथ्यात्व भाव के कारण जिन प्रकृतियों का आश्रव होता है मिथ्यात्व का अभाव होने पर उन प्रकृतियों का सम्वर हो जाता है । यद्यपि मिथ्यात्व का उदय होने पर तीर्थंकर आहारक जैसी सातिशय पुण्य प्रकृतियों को छोड़कर सभी प्रकृतियों का आश्रव चल सकता है, किन्तु यहां यह जानना कि मिथ्यात्व न रहने पर जिन प्रकृतियों का आश्रव अविरति आदिक के कारण चल रहा है उनको मिथ्यात्व निमित्तक आश्रव न समझना । मिथ्यात्व के हटते ही जिन प्रकृतियों का आश्रव हट जाता है उन प्रकृतियों के आश्रव को मिथ्यात्व निमित्तक समझना । तो ऐसी प्रकृतियां १६ हैं । और चूंकि मिथ्यात्व का उदय दूसरे गुणस्थान में भी नहीं है, यद्यपि तुरन्त ही मिथ्यात्व का उदय आ जायगा मगर एक समय से लेकर ६ आवली पर्यन्त सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान का समय हुआ करता है, वहां मिथ्यात्व का उदय नहीं है, सो मिथ्यात्व निमित्तक १६ प्रकृतियां दूसरे गुणस्थान में भी गहलनीं अर्थात् दूसरे गुणस्थान में १६ प्रकृतियों का सम्वर है । वे १६ प्रकृतियां कौन-कौन हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय इन तीन कर्मों की प्रकृतियों का यहां सम्वर नहीं है, आवरण वाली प्रकृतियों का सम्वर १२वें गुणस्थान के अनन्तर है सो यहां उसका सवाल ही नहीं । वेदनीय प्रकृति का भी मिथ्यात्व के कारण आश्रव नहीं होता अतः उसका भी यहां सम्वर नहीं है । मोहनीय में से मिथ्यात्व और नपुंसक वेद इनका सम्वर दूसरे गुण स्थान में है । आयु में नरकायु नाम कर्म में नरकगति, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय, हुँडक संस्थान, छठा संहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, आताप, स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण असाधारण इन १६ प्रकृतियों का बंध पहले गुणस्थान तक ही है । दूसरे गुणस्थान में इनका सम्वर है । तीसरे गुणस्थान में २५ का सम्वर और हो जाता है । वे प्रकृतियां ये हैं—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, और स्त्यानगृद्धि, ये तीन तो खोटी प्रकृतियाँ हैं । यहां इनका दूसरे गुणस्थान में सम्वर है । मोहनीय में से अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और स्त्रीवेद, इन प्रकृतियों का सम्वर है । आयु कर्म में से तिर्यञ्चायु का सम्वर है । दूसरे गुणस्थान में तिर्यंक आयु का आश्रव बंध नहीं होता । नाम कर्म की प्रकृतियों में से इन प्रकृतियों का सम्वर दूसरे गुणस्थान में है, तिर्यग्गति, चार संस्थान, पहले और छठे को छोड़कर चार संहनन, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत् अप्रशस्त विहायोगति दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, गोत्र कर्म की प्रकृतियों में से नीच गोत्र का सम्वर है, ऐसी इन २५ प्रकृतियों का बंध एकेन्द्रिय से लेकर सासादन सम्यग्दृष्टि पर्यन्त के होता है । इसके बाद याने तीसरे गुणस्थान और आगे के गुणस्थान में इन सबका सम्वर होता है ।

अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषाय वाले असंयम से रहित भूमिका में संवर का विवरण—चतुर्थ गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपाग, प्रथम संहनन, मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन १० प्रकृतियों का बंध होता है । यह बंध अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम के कारण होता है । यह असंयम ५वें गुणस्थान में नहीं है इस कारण इन १० प्रकृतियों का सम्वर ५वें गुणस्थान में है और इससे आगे के गुणस्थानों में है । संयमासंयमी जीवों के प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियों का बंध होता है अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर पंचम गुणस्थान तक के जीवों के ये बंध चल रहे थे किन्तु प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय छठे गुणस्थान में नहीं है, अतः इस कषाय के कारण हुए असंयम के निमित्त से जिन प्रकृतियों का आश्रव होता था उनका आश्रव नहीं है अर्थात् इन चार प्रकृतियों का छठे गुणस्थान में और उससे ऊपर के गुणस्थानों में सम्वर होता है । छठे गुणस्थान में प्रमाद के कारण

जिन प्रकृतियों का आश्रव होता था सो प्रकृतियां आगे न रहने के कारण उन प्रकृतियों का सम्वर ७व गुणस्थान में है, वे प्रकृतियां ६ हैं। असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशकीर्ति। देवायुका भी बंध प्रमाद के कारण होता है, पर प्रमाद में देवायुका बंध प्रारम्भ करके अप्रमाद में भी अर्थात् ७वें गुणस्थान में भी उसका कहीं बंध होता है तब देवायुका सम्वर ७वें गुणस्थान से ऊपर है। कुछ ७वें गुणस्थान में भी सम्वर है। यहां तक मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद ये तीन कारण हट चुके।

प्रमाद रहित उत्कृष्ट कषाय की भूमिका में संवर का विवरण—८वें गुणस्थान में ये तीन कारण तो नहीं हैं, पर कषाय है। यद्यपि कषाय पहले गुणस्थान से ही चली आ रही है, किन्तु यहां उस कषाय को लिया है कि जहां मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद न रहे और कषाय मात्र रहे ऐसे कषाय के कारण जिन प्रकृतियों का आश्रव होता था उन प्रकृतिवों का कषाय न रहने पर निरोध हो जाता है। तो प्रमाद आदिक रहित ये कषाय तीन प्रकार के हैं—(१) तीव्र (२) मध्यम और (३) जघन्य। सो प्रमादरहित तीव्र कषाय ८वें गुणस्थान में है, प्रमादरहित मध्यम कषाय ९वें गुणस्थान में है, प्रमादरहित जघन्य कषाय १०वें गुणस्थान में है। अपूर्वकरण के पहले संख्यात भाग में निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियां बनती हैं। उसके ऊपर के संख्यात भाग में तीन ही प्रकृतियां बंधती हैं और इस ही अपूर्व कारण के अन्तिम समय में चार प्रकृतियां बंधती हैं। ये सब मिलकर ३६ प्रकृतियां हैं। इन ३६ प्रकृतियों का सम्वर ९वें गुणस्थान में रहता है। वे ३६ प्रकृतियां ये हैं। प्रथम अंश में निद्रा और प्रचला द्वितीय अंश में ये तीन ही प्रकृतियां हैं। देवगति पञ्चेन्द्रिय जाति वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्माण शरीर। पहला संस्थान वैक्रियक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस वादर पर्याप्त, प्रत्येक स्थिर, शुभ, सुभग, सुश्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर, अन्तिम समय की चार प्रकृतियां हैं—हास्य, रति, भय, जुगुप्सा।

प्रमाद रहित मध्यम और जघन्य कषाय वाली भूमिका में संवर का विवरण—उक्त समस्त ३६ प्रकृतियों का ९वें गुणस्थान में सम्वर होता है। ९वें गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर संख्यात भागों में प्रदेश बंध और संज्वलन क्रोध ये दो प्रकृतियां बंधती हैं। उससे ऊपर शेष संख्यात भागों में संज्वलन मान और संज्वलन माया ये दो प्रकृतियां बंधती हैं, और इस ही ९वें गुणस्थान के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ बंध को प्राप्त होता है। ये समस्त प्रकृतियां जो ९वें गुणस्थान में बंध रही हैं ये मध्यम कषाय के आश्रव हैं। ये जब नहीं रहती याने उसके बाद के भागों में इन प्रकृतियों का सम्वर होता है और इन सब प्रकृतियों का ११वें गुणस्थान में प्रारम्भ से ही सम्वर है। १०वें गुणस्थान में यह जीव ५ ज्ञानावरण प्रकृतियों का, ४ दर्शनावरण प्रकृतियों का, यशसकीर्ति, उच्चगोत्र और ५ अंतराय प्रकृतियों का बंध करने वाला है। ये मंद कषाय के आश्रव हैं। इन प्रकृतियों का १०वें गुणस्थान के अन्त में बंध विच्छेद हो जाता है, सो इन प्रकृतियों का अभाव होने पर इससे ऊपर के गुणस्थानों में इन प्रकृतियों का सम्वर है।

कषाय रहित भूमिका में संवर का विवरण—क्षीण मोह नामक १२वें गुणस्थान के अन्त में मंद कषाय से होने वाले आश्रव का निरोध है और यहां ही समस्त शेष घातिया कर्मों का अभाव हो जाता है जिसके कारण १३वां गुणस्थान बनता है। तेरहवें गुणस्थान में योग का सद्भाव होने से वह सयोग केवली कहलाता है। १३ वें गुणस्थान में १२वें गुणस्थान में और ११वें गुणस्थान में सातावेद-

नीयका ही आश्रव है। इसका सम्वर होने पर अयोग केवली गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का आश्रव नहीं है, इस प्रकार मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के अभाव से इन समस्त प्रकृतियों का अपनी-अपनी भूमिका में सम्वर हो जाता है। अन्त में सातावेदनीय का आश्रव चलता था, जिसका निमित्त है योग, क्योंकि असातावेदनीय प्रकृतियों का बंध नहीं होता, केवल ईर्यापथ आश्रव होता है। सो इस योग के अभाव में अयोग केवली के शेष बचे हुए सातावेदनीय का भी सम्वर हो जाता है, आत्मा की प्रगति सम्वर पूर्वक ही होती है, जैसे किसी समुद्र या नदी में नाव चल रही है, उसमें छेद है और उस छेद के द्वार से नाव में पानी आ रहा है, तो पानी आ रहा, भरेगा तो वह नाव डूब जायगी। तो नाव का खेने वाला सर्व प्रथम उपाय उस छेद को बंद करने का करता है, ऐसा भी नहीं चाहता कि छेद बंद तो न हो और पानी उलीचता जाय। ऐसा करने से उसे लाभ नहीं है। यहाँ उलीच रहा वहाँ आ रहा, आपत्ति तो वही रही, तो सर्वप्रथम वह नाव का छिद्र बंद करता है, फिर आया हुआ जो पानी है उसको वहाँ से निकालता है। सब पानी निकल जाने पर आराम से नौका उस समुद्र या नदी के एक तट पर पहुँच जाती है। ऐसे ही इस आत्मा में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद आदिक के छिद्रों से कर्मप्रकृतियों का आश्रव होता है। तो मोक्षगामी जीव सर्वप्रथम उन मिथ्यादर्शन आदिक छिद्रों को बंद करता है, शुद्ध आत्म स्वभाव की दृष्टि से वह इन विभावों को दूर करता है। होता है सम्वर। अब नवीन कर्मों का आश्रव नहीं चल रहा। जहाँ जैसी भूमिका है उसके अनुसार आश्रव निरोध है। अन्त में जब पूर्ण आश्रव निरोध हो जाता तो जहाँ से आश्रव निरोध चल रहा और चारित्र मोह का क्षय चलने लगा वहाँ से कर्म प्रकृतियों की निर्जरा चल रही थी, क्षय हो रहा था, क्षय होते होते अन्त में सर्व कर्म प्रकृतियों का अभाव हो जाता है तो आत्मा को मुक्ति प्राप्त होती है। तो मुक्ति प्राप्त होने में मूल उपाय सम्वर है। बड़े बड़े मुनिराजों ने सम्वर तत्त्व पाये बिना बड़ी बड़ी तपस्यायें की लेकिन उनको मोक्ष मार्ग नहीं मिल सका। और जिन मुनिराजों ने सम्यक्त्व लाभ लिया, सम्वर तत्व पाया उनकी निर्जरा और क्षय होकर मुक्ति हुई है। इस प्रथम सूत्र में सम्वर तत्त्व का लक्षण कहा है कि आश्रव का निरोध होना सम्वर है वहाँ यह ज्ञात न हो सका कि आत्मोपलब्धि के कारण मिलने पर कर्म का निरोध होता है तो वह किस उपाय से होता है, उस उपाय की यहाँ जिज्ञासा है कि आश्रव निरोध इस उपाय से होता है, उस उपाय को बताने के लिए सूत्र कहते हैं।

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः…………॥९—२॥

संबर के उपायों में सर्वप्रथम उपाय गुप्ति—आश्रव निरोध गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के भावों से होता है। संसार के कारणों से बचना इसका नाम गुप्ति है। गुप्ति शब्द गुपू रक्षणे धातु से बना है और इसमें क्तिन् प्रत्यय लगा है जिसका अर्थ होता है—जो रक्षा करे, बचावे उसे गुप्ति कहते हैं। गुप्ति के तीन भेद हैं—(१) मनोगुप्ति, (२) वचन गुप्ति और (३) काय गुप्ति। मन, वचन, काय से आश्रव हुआ करता था। तो उन मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों को रोक देना सो ये गुप्तियाँ कहलाती हैं। मन को वश में करना, संसारी प्राणियों का मन इन्द्रिय के विषयों में, विषयों के साधनों में यत्र तत्र डोला करता है और जिसके कारण चित्त अस्थिर रहता है। ज्ञानी साधु संत इन्द्रिय के विषयों पर विजय प्राप्त करते हैं और मन से भी किसी का ख्याल नहीं रखते, उनका मन वश में है और मन का उपयोग आत्म स्वभाव की दृष्टि के लिए हुआ करता है। उन साधु संतों के मनो गुप्ति है जिसके प्रताप से कर्मो का सम्वर होता है। वचन डोलने की प्रवृत्ति से भी आश्रव होता है। तो

जो उच्च ज्ञानी संत है, जिनको आत्मा की पूर्ण धुन हुई है वे आत्मस्वभाव में ही उपयुक्त रहा करते हैं। वचन व्यवहार उनका समाप्त होता है और अन्तः ही विचार रहता है, उन साधु संतों के वचनगुप्ति है जिसके प्रताप से कर्मों का सम्वर है। कायगुप्ति- शरीर की प्रवृत्ति न करना, स्थिर शरीर करके जहाँ जैसे पड़े हैं पड़े हैं, उसका विकल्प न करना, काय की चेष्टा न करना, इस प्रकार काय को वश करता हुआ आत्मा सहज चैतन्य स्वभाव में ही उपयुक्त रहना कायगुप्ति है। जिनके ये तीन गुप्तियाँ हो जाती हैं उनके अवधिज्ञानादिक ऊंचे ज्ञान होते हैं।

गुप्तिसिद्धि के प्रभाव का अनुमापक एक उदाहरण—गुप्ति परीक्षण के सम्बन्ध में एक घटना भी हुई कि जब राजा श्रेणिक ने चेलना से धर्म के संबंध में विवाद किया और कहा कि हमारे सन्यासी सर्वज्ञ होते हैं तो रानी चेलना ने उन भिक्षुवों के भोजन का प्रसंग बनाकर परीक्षा की और उस प्रसंग में उन्हीं भिक्षुवों के चमड़े के जूतों के टुकड़े कराकर खीर में मिलाया। बाद में जब जूते न मिले तो वे भिक्षु हैरान हुए। अन्त में जब ज्ञात हुआ कि उन जूतों का इस प्रकार उपयोग हुआ तो उससे भिक्षु थोड़ा लज्जित हुए पर राजा श्रेणिक भी लज्जित हुए। उसका बदला चुकाने के लिए राजा श्रेणिक ने चेलना से कहा कि तुम मुनियों को आहारदान दो। तो राजा श्रेणिक ने एक जगह हड्डियाँ गड़वाकर, वहीं कोठरी वनवाकर उसमें रसोई बनवाया। जब चेलना वहाँ पड़गाहने खड़ी हुई तो इस प्रकार पड़गाहा कि हेत्रिगुप्तिधारी मुनिराज अत्र तिष्ठ तिष्ठ, तो वहाँ कोई मुनि न ठहरे, कारण यह था कि जिनके तीनों गुप्तियाँ सिद्ध न थीं उनको तो पड़गाहा ही न था, वे ठहरें कैसे और जिनको गुप्ति सिद्ध थी उन्होंने अवधिज्ञान के बल से जाना कि यह रसोई घर का स्थान अपवित्र है इसलिए नहीं आये। यह तथ्य बाद में उन मुनियों से चर्चा करने पर विदित हुआ। एक बार राजा श्रेणिक ने जंगल में बैठे हुए किसी मुनिराज पर मरा हुआ एक सर्प डाल दिया और आकर चेलना से कहा कि हमने तुम्हारे साधु पर जंगल में एक मरा हुआ साँप डाला है, तो राजा की यह बात सुनकर रानी चेलना बड़ी दुःखी हुई। तब राजा श्रेणिक ने समझाया कि अरे अब क्यों दुःख मानती ? वह तो साँप को फेंककर कहीं के कहीं चले गए होंगे। तो रानी चेलना बोली नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। यदि वह सच्चे मुनि हैं तो उपसर्ग आने पर वह कहीं नहीं जा सकते। वह तो वहीं ध्यान लगाये बैठे होंगे। आखिर जब दोनों पहुँचे तो क्या देखा कि वह मुनिराज ध्यानस्थ बैठे हुए थे। उनके गले में मरा सर्प पड़ा होने से चींटियों का समूह चढ़ा हुआ था। वहाँ रानी चेलना ने नीचे शक्कर डाला जिससे सारी चींटियाँ नीचे उतर गईं। यह काम इसलिए किया कि कहीं उपसर्ग दूर करने में किसी जीव की हिंसा न हो जाय। अब उपसर्ग दूर हुआ तो मुनिराज ने आँखें खोला और सामने खड़े हुए दोनों को एक ही आशीश दिया—धर्मवृद्धिरस्तु जिस घटना को देखकर राजा श्रेणिक पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जिसने पहले सप्तम नरक की आयु बाँध रखी थी, उसकी इस आत्मविशुद्धि के प्रताप से केवल पहले नरक का आयु बंध रह गया। तो गुप्ति सम्वर का विशेष कारण है।

संवर के उपायभूत समिति का विवरण—समिति–भली प्रकार चलना, प्रवृत्ति करना समिति कहलाता है। समिति ५ प्रकार की होती है—(१) ईर्यासमिति (२) भाषासमिति (३) एषणासमिति (४) आदान निक्षेपण समिति और (५) प्रतिष्ठापना समिति। ईर्यासमिति—सूर्य के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना ईर्यासमिति है। इस ईर्यासमिति को प्रकट करने वाले मुनि को यदि अच्छे कार्य के लिए गमन है और अच्छे भावपूर्वक गमन है तो वह ईर्यासमिति कहलाती है। अर्थात्

ईर्यासमिति में ४ बातें आवश्यक हैं। किसी अच्छे धर्मादिक कार्य के लिए जाना, अच्छे भाव रखते हुए जाना, सूर्य के प्रकाश में जाना अर्थात् दिन में जाना और चार हाथ आगे जमीन शोधकर चलना। भाषा समिति-हितमितप्रिय वचन बोलना भाषा समिति है। साधु संत जन दूसरे से कुछ वचन बोलते हैं तो हितकारी ही वचन बोलते हैं। जिनको आत्महित का निरन्तर ध्यान है वे दूसरे से बोलेंगे तो परहित का ध्यान रखते हुए ही बोलेंगे। साधु संत जन अत्यन्त कम शब्दों में वचन व्यवहार करते हैं। अधिक बोलना यह क्षोभ का कारण बन जाता है। जो लोग अधिक बोलते हैं उनके बोलने में कुछ शब्द ऐसे निकल बैठते हैं जो स्वयं के लिए अफसोस उत्पन्न करते हैं। साधु संत जन परिमित वचन ही बोलते हैं। तो साधु हितमित प्रिय वचन बोलते हैं। किसी भी जीव का हित अप्रिय वचन व्यवहार करके नहीं कराया जा सकता। प्रिय वचन से ही आकर्षण होता है। और वह वहाँ हित की बात सुन सकता है। तो हितमित प्रिय वचन बोलना भाषासमिति है। एषणासमिति–विधिपूर्वक आहार के लिए चर्या करना और आदर से पड़गाहने वाले श्रावक के यहाँ अंतराय टालकर निर्दोष आहार करना यह एषणासमिति है। साधुजन स्वयं रसोई का आरम्भ नहीं करते क्योंकि उसमें हिंसा है और समय उन विषयों के साधन जुटाने में अधिक लगता है जिससे आत्म साधन में बाधा होती है। अतएव साधु जन स्वयं रसोई का आरम्भ नहीं करते, किन्तु शुद्ध भोजन बनाने वाले गृहस्थ के यहाँ यदि गृहस्थ आदरपूर्वक पड़गाहे तो वहाँ साधु जन भोजन करते हैं। तो इसी आहार चर्या को निर्दोष सम्पादित करना एषणासमिति कहलाती है। आदान-निक्षेपण समिति–दया, ज्ञान शुद्धि के उपकरणों को शोधकर उठाना, शोधकर रखना आदान निक्षेपण समिति है। साधु संत जन दया के लिए कोमल पिछी रखते है तो कमण्डल आदिक उठाते समय कमण्डल को पिछी से साफ करते हैं और थोड़ा उठाकर उसकी तली भी साफ करते हैं। और फिर जहाँ रखेंगे उस जगह को पिछी से शोध कर रखेंगे। ऐसी वस्तुओं को शोधकर हिंसा टालकर धरना उठाना आदान निक्षेपण समिति कहलाता है। प्रतिष्ठापनासमिति–शरीर के मल मूत्र पसेव आदिक को ऐसी जगह में फेंकना जहाँ हिंसा न हो, निर्दोष निर्जन्तु जमीन पर मल आदिक का क्षेपण करना प्रतिष्ठापनासमिति है। इन समितियों में बाहर से व्यापार दिखता है लेकिन इनमें निवृत्ति का भाव है और उस निवृत्ति के भाव के कारण सम्वर है। प्रवृत्ति सम्वर का कारण नहीं है, लेकिन इस प्रवृत्ति में इन्द्रिय की प्रधानता है। जब जीव रक्षा का भाव चल रहा है तो वहाँ उन जीवों का सहज चैतन्यस्वरूप उनकी दृष्टि में आता है। अपने स्वरूप पर भी दृष्टि होती है। ऐसे अन्तस्तत्व की उपासना समितियों में भी निरन्तर चल रही है, इस कारण समितियों में कर्मप्रकृति का सम्वर चला करता है।

संवर के उपायभूत धर्म के अङ्गों में उत्तम क्षमा का विवरण— धर्म–इष्ट स्थान में जो धारण करे उसे धर्म कहते हैं। आत्मा का इष्ट स्थान तो मुक्ति है और फिर इसी धर्म के प्रताप से रागांश के शेष रहने पर नरेन्द्र सुरेन्द्र मुनीन्द्र आदिक के स्थानों में भी यह आत्मा पहुँचता है। तो जो आत्मा को इष्ट स्थान में धारण करा दे उसका नाम धर्म है। धर्म तो वास्तव में आत्मा के स्वभाव का नाम है और आत्मस्वभाव की उपासना करना, धर्म पालन करना कहलाता है। तो जो आत्मस्वभाव की उपासना करता है उसमें १० प्रकार के भाव बनते हैं जिन्हें दस धर्म कहा करते हैं। उनमें प्रथम धर्म है उत्तम क्षमा। कोई दूसरा जीव साधु से अपराध करे, सताये, दुर्वचन बोले तो उस पर साधु संत जन क्रोध नहीं करते, किन्तु वस्तु के स्वरूप का मनन करते रहते हैं। यह दुर्वचन बोलने वाला आत्मा मेरे ही समान सहज चैतन्यस्वरूप है, किन्तु अनादि काल से परम्परा से चले आये कर्म के उदय काल में यह जीव

अपने स्वभाव को भूलकर और वाह्य विषयों में लगकर, उन विषयों में विघ्न जानकर क्रोध किया करता है। यह जीव क्रोध नहीं कर रहा किन्तु कर्म के उदय की छाया का यह रूप बन रहा है। यह तो ज्ञान और आनन्द का निधान है, इस प्रकार विरोधी जीव में इस ही सहज ज्ञानानन्द स्वभाव को ज्ञानी जन निरखते हैं और अपने में उत्तम क्षमा को बनाये रहते हैं। उत्तम क्षमा सम्यग्दृष्टि जीव के ही सम्भव है। जिनने स्वपर भेद विज्ञान किया और निर्विकल्प अविकार जो स्वभाव का अनुभव करके सहज आनन्द पाया ऐसे पुरुष ही अन्य जीवों पर क्षमा भाव धारण करते हैं। क्षमा वीरों का भूषण है। कोई सोचे कि जिस बलवान पर वश न चले सो गम खाकर रहना क्षमा हो जायगी, सो बात नहीं है। समर्थ होकर भी छोटे पुरुषों पर क्षमा भाव रखे तो उत्तम क्षमा कहलाती है। यह उत्तम क्षमा स्वभाव विकास का मूल है। जिसके अन्य जीवों पर क्रोध का संस्कार बना रहता है उसके आत्मा के सारे गुण फुक जाते हैं। उसके गुणों का विकास नहीं हो पाता। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह हर स्थितियों में अपने आपको समझा-बुझाकर क्रोध में न आये। क्रोध में आने वाला पुरुष अपना अनर्थ कर डालता है। ज्ञानी संत उत्तम क्षमाशक्ति होते हैं और इस क्षमा के प्रताप से, आत्मस्वभाव के मनन में निरन्तर बने रह सकते हैं। यह उत्तम क्षमा विशिष्ट धर्म है जिसके प्रताप से यह इस भव में तथा अगले भव में अगले भविष्य काल में यह इष्ट स्थान में अपनी स्थिति बनाये रखता है।

धर्म आदि सभी संवर करणों के भेदों की सूत्रों में वक्ष्यमाणता—धर्म से सम्वर होता है। धर्म के दस लक्षण हैं, जिनमें उत्तम क्षमा का कुछ वर्णन किया, इसी प्रकार उत्तम मार्दव आदिक धर्म भी सम्वर के कारण हैं, इन सबका वर्णन आगे सूत्रों में आयगा। अनुप्रेक्षा–शरीरादिक के स्वभाव का धर्मानुरूप चिन्तन करना अनुप्रेक्षा कहलाता है। परीषह–समतापूर्वक उपसर्ग सहन करने को परीषह कहते हैं। परिषह शब्द में परि तो उपसर्ग है और सह धातु है। जो सही जायें उन्हें परिषह कहते हैं। सह धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर परीषह शब्द बना है। यद्यपि घञ् प्रत्यय लगाने के कारण षाह शब्द होना चाहिये अर्थात् परीषाह, किन्तु व्याकरण के अपवादक सूत्रानुसार यहाँ दीर्घ न होगा और उपसर्ग सम्बन्धी इकार को दीर्घ हो जायगा। परीषह के विजय को परीषहजय कहते हैं। चारित्र का संकेत तत्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में ही दिया गया है, जो आचरण किया जाय उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र का भी वर्णन आगे के सूत्रों में होगा।

संवर स्वरूप गुप्ति आदि की करण कारकता में प्रयुक्ति का प्रयोजन— इस सूत्र में गुप्ति आदिक शब्दों का द्वन्द्व समास किया गया है और करणकारक में तृतीया विभक्ति का बहुवचन दिया गया है जिससे यह प्रकट सिद्ध है कि सम्वर करने वाले आत्मा के सम्वरण क्रिया का साधकतम यह गुप्ति आदिक है। यहाँ शंकाकार कहता है कि सम्वर ही गुप्ति आदिक है। तब इसमें तृतीया विभक्ति न लगना चाहिये। गुप्ति आदिक के कारण सम्वर होता है ऐसा अर्थ सही नहीं जचता किन्तु गुप्ति आदिक भाव स्वयमेव सम्वर हैं, फिर भेद पूर्वक निर्देश क्यों किया गया है? समाधान–भेदपूर्वक निर्देश करने से यह सिद्ध होता है कि आश्रव के निमित्तभूत कर्म का सम्वरण होता है। केवल भावसम्वर की विवक्षा करें तो वहाँ भेद का निर्देश न किया जाय यह ठीक हो सकता है किन्तु भेद का निर्देश करने पर भाव सम्वर का भी बोध हो जाता है और मुख्यतया द्रव्य कर्म सम्वर का बोध होता है अर्थात् गुप्ति आदिक परिणामों के कारण द्रव्यकर्म का सम्वर हो जाता है। इस सूत्र में सः शब्द देने से गुप्ति आदिक से सम्वर का साक्षात् संबंध सिद्ध होता है और उससे यह नियम बनता है कि वही सम्वर गुप्ति आदिक के द्वारा

होता है। अन्य उपायों से नहीं होता है। जैसे व्यवहार धर्म में अनेक बातें चलती हैं अथवा अन्य धर्मों में अनेक प्रकार के क्रियाकाण्ड चलते हैं, अनेक देवताओं की आराधना यज्ञ आदिक किन्तु वे सब सम्वररूप नहीं हैं, क्योंकि उन क्रियावों से कर्म की निवृत्ति नहीं हो सकती। कर्म का सम्वर होता है रागद्वेष मोह भाव से। सो उन सब क्रियाकाण्डों में रागद्वेष की प्रवृत्ति रहने से कर्म का सम्वर नहीं हो सकता। यदि नदी स्नान आदिक से कर्म की निवृत्ति होने लगे तो मत्सआदिक जो कि नदी के जल में सदा रहते हैं उनको तो मोक्ष सुलभ हो जायेगा। तो बाहरी क्रियाकाण्डों से या अज्ञान भरी लोकमूढ़ता के कल्पित धर्मों से कर्मों का सम्वर नहीं होता अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या गुप्ति आदिक इन कारणों से ही यह सम्वर बनता है या कुछ अन्य भी कारण है ? तो इसके अन्तर में सूत्र कहते हैं।

तपसा निर्जरा च ॥९–३॥

तपसे संवर और निर्जराका उद्‌भव—तप के द्वारा सम्वर होता है और निर्जरा भी होती है। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि तप का तो धर्म में अन्तर्भाव हो जाता है। धर्म के दस अंग बताए गए हैं। क्षमा, मार्दव, आदिक उन्हीं में से उत्तम तप नाम का भी धर्म आया है और धर्म से सम्वर होता है, यह दूसरे सूत्र में कहा गया है। फिर यहाँ इस सूत्र का बनाना या तप का पृथक से ग्रहण करना अनर्थक है ? समाधान—यद्यपि तप का अन्तर्भाव धर्म के अंग में हो गया है तो भी दूसरे सूत्र में सम्वर का वर्णन है, पर यहाँ तप से निर्जरा भी होती है, ऐसा निर्जरा का कारणपना प्रसिद्धि करने के लिये इस सूत्र को पृथक कहा गया है और निर्जरा का कारण भी है। अथवा जितने सम्वर के कारण बताये गए हैं उनमें प्रधान तप है। इसका ज्ञान कराने के लिए भी तप का पृथक ग्रहण किया गया है। इस सूत्र में च शब्द का जो ग्रहण है उससे सम्वर के निमित्त का समुच्चय भी ग्रहण किया जाता है। तप के द्वारा नवीन कर्मों का सम्बन्ध का अभाव होता है अर्थात् सम्वर होता है, यह तो युक्त है ही, पर पूर्व में बाँधे गए कर्मों का विनाश भी होता है। यही अविपाक निर्जरा कहलाती है। निर्जरा के दो भेद हैं—(१) सविपाकनिर्जरा और (२) अविपाकनिर्जरा। सविपाक निर्जरा तो समस्त संसारी जीवों के चल ही रही है। कर्म का उदय होता है याने उदय होकर कर्म निकल जाते हैं। कर्मों का झड़ना होता है और उनका निमित्त पाकर जीव फल भोगता है। सो ऐसी सविपाकनिर्जरा तो सर्व संसारी जीवों के पायी जा रही है, पर अविपाकनिर्जरा विशिष्ट महान आत्मावों के पायी जाती है। तपश्चरण के द्वारा उन कर्मों का क्षय करके या कर्मों की अदल-बदल होने पर उसका फल प्राप्त न होना और कर्मों का खिरजाना इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। ऐसी अविपाक निर्जरा तपश्चरण के द्वारा होती है, यह बात इस सूत्र में कही गई है।

तपकी समृद्धिहेतुताका भी कथन—शंकाकार कहता है कि तपश्चरण तो स्वर्गादिक की प्राप्ति का भी कारण है फिर तपश्चरण को निर्जरा का अंग न कहना चाहिए। बड़े-बड़े अहिमिन्द्रादिक पद तपश्चरण के द्वारा ही प्राप्त होते हैं, फिर इस सूत्र में तपसे निर्जरा होती है यह कहना कैसे युक्त हुआ ? समाधान—एक कारण अनेक कार्यों के आरम्भ का कारण बन जाता है, जैसे अग्नि एक है तोभी उस अग्नि के कारण जलना, पकना, किसी का भस्म हो जाना, प्रकाश होना आदिक अनेक प्रयोजन पाये जाते हैं। इसी प्रकार तपश्चरण से कर्मों का क्षय होता है, यह तो बात कही गई, पर स्वर्गादिक की प्राप्ति, अहिमिन्द्र पद की प्राप्ति जैसे अभ्युदयका भी उत्पत्ति का कारण होता है इसमें कोई विरोध नहीं है। अथवा यह समझना चाहिये कि जहाँ तपश्चरण करते हुए भी जब तक

वीतरागता नहीं जगी है तब तक यह उसके अभ्युदयका का कारण भी बनता है, पर वीतरागता बने तो तपश्चरण निर्जरा ही कारण होता है। अथवा जैसे कोई किसान खेती का काम करता है तो उसका प्रयोजन अन्न का उत्पन्न करना है, धान्य आदिक दानों को उत्पन्न करने का प्रयोजन है, पर उस ही क्रिया में घास भी मिल जाती है, भुसा भी मिल जाता है, तो खेती का फल तो हुआ अनाज। मुख्यता है अनाज की, पर गौण रूप से घास, भुसा आदि भी प्राप्त हो जाते हैं। तो ऐसे ही मुनियों के तपश्चरण की क्रियाओं में भी मुख्यता तो है कर्मों के क्षय की पर उसका गौणफल देवेन्द्र पद की प्राप्ति है। अब सम्वर तत्व के प्रसंग में गुप्ति आदिक को सम्वर का कारण बतलाया। अब उन्हीं गुप्ति आदिक के सम्बन्ध में विवरण चलेगा कि वे कितने प्रकार के हैं और उनका विषय क्या है। उनकी सामर्थ्य क्या है। सो अब क्रम प्राप्त गुप्ति का वर्णन कर रहे हैं।

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥६–४॥

गुप्तिकी संवरकरणताका प्रकाश—भले प्रकार से योग का निग्रह करना गुप्ति कहलाता है। छठे अध्याय के प्रथम सूत्र में बताया गया था कि शरीर वचन और मन की क्रियाओं को योग कहते हैं। योग का सीधा अर्थ तो आत्मा के प्रदेशों का हलन चलन है पर यह हलन चलन शरीर, वचन, मनोवर्गणाका आलम्बन लेकर होता है, इस कारण तीनों योगों का नाम देकर योग का लक्षण बताया गया है। योग का निग्रह क्या कहलाता है? योग की स्वच्छंदता का अभाव होना, मनमाने आचरण का अभाव होना निग्रह कहलाता है। योग के निग्रह को योग निग्रह कहते हैं। यहाँ सम्यक विशेषण दिया गया है जिससे अर्थ बनता है कि भले प्रकार से योग का निग्रह होना गुप्ति है। तो उस भले प्रकार से क्या अर्थ विवक्षित है? वह अर्थ यह है कि सत्कार लोकेषणा आदिक की आकांक्षा जहाँ रंच भी न रहे वहाँ ही योग निग्रह गुप्ति कहलाती है। सत्कार के मायने है सम्मान होना, पूजा होना। लोकेषणा के मायने है कि यह संयमी बहुत महान् है, इस प्रकार लोक में बड़प्पन का प्रकाश होना। तो ऐसा इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी फल की आकांक्षा के बिना, विषय सुखों की अपेक्षा के बिना केवल स्वभाव में लीनता के प्रयोजन से जो काय, वचन, मन का निग्रह है वह गुप्ति कहलाता है। कोई पुरुष सत्कार और लोकेषणा के लाभ से बड़े-बड़े तपश्चरण करे, स्थिर होकर खड़े होकर तप करे, एक पैर से खड़ा रहे या मौन धारण कर ले, किसी प्रकार योग निग्रह बनाने का प्रयत्न करे तो भी भीतर में इहलोक परलोक की आकांक्षा होने से वह गुप्ति न कहलायेगी।

सम्यक् योगनिग्रह की कार्यकारिता—सम्यक् विशेषण शब्द देने से यह अर्थ लेना कि संक्लेश की उत्पत्ति जहाँ नहीं होती है ऐसी विधि से काय, वचन, मन का निरोध होने पर योग निमित्तक कर्म नहीं आते हैं, ऐसा योगनिग्रह गुप्ति कहलाता है। ये गुप्तियाँ तीन हैं—(१) कायगुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) मनोगुप्ति। जिस पुरुष के कायगुप्ति नहीं है वह यत्नाचार के बिना देखे शोधे भूमि पर घूमता है, बिना देखे भूमि पर दूसरी वस्तु रखता है, बिना देखे शोधे भूमि पर सोना, बैठना, उठना आदिक शारीरिक क्रियायें करता है। ऐसी कायिक क्रियाओं से कर्म का आश्रव होता है। यद्यपि शारीरिक क्रियायें आश्रव का कारण नहीं है। कर्माश्रवका कारण रागद्वेषादिक विभाव हैं, पर इन चिन्हों से पहिचाना जाता है कि इसके किस प्रकार का प्रमाद है और रागद्वेष है, अतएव कहा जाता है कि ऐसी काय चेष्टाओं से कर्म का आश्रव होता है। ऐसा काय योग का निग्रह करने वाले संयमी जीव के कर्मों का आश्रव नहीं होता, ऐसे ही जिनके वचन योग का निग्रह नहीं है उन जीवों के असत्य प्रलाप, अप्रिय

वचन के बोल अदिक व्यापार होने लगते हैं और ऐसे वचन व्यापार का निमित्त पाकर कर्म का आश्रव होता है, किन्तु जिनके वचनगुप्ति है उन पुरुषों के कर्म का आश्रव नहीं होता, इसी प्रकार जिनके मनोगुप्ति नहीं है, रागद्वेषादिक विकारों से जो दब गये हैं उनका मन स्वच्छंद विचरता है। अतीत विषयों की अभिलाषा, ख्याल, स्मरण, भावी विषयों की अभिलाषा, वर्तमान विषयों में आसक्ति ऐसे मन का व्यापार चलता है और इस मनोयोग के होने पर कर्मों का आश्रव होता है, किन्तु जिनके मनोयोग का निग्रह हो चुका है उनके इन कर्मों का आश्रव नहीं होता। यों योग के निग्रह से सम्वर तत्व होता है। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि जब तक शरीर साथ लगा हुआ है तब तक इन जीवों को प्राण जीवित रखने के लिए चेष्टायें तो करनी ही होंगी, तो उनके लिए मुनियों की जैसी गुप्तियाँ होना एक कठिन बात है। तो जहाँ गुप्ति अशक्य है वहाँ फिर सम्वर ही न हो सकेगा। ऐसी जिज्ञासा रखने वाले पुरुषों के समाधान करने के लिये समितियों का वर्णन करने वाला सूत्र कहते हैं।

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥९-५॥

समिति और ईर्यासमिति का लक्षण—समिति शब्द का सबके साथ सम्बन्ध है और इससे पहले सूत्र में कहे गए सम्यक शब्द का भी प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। भली प्रकार ईर्या करना ईर्यासमिति है। भले प्रकार भाषा में प्रवृत्ति करना भाषा समिति है। भले प्रकार आहार की खोज में प्रवृत्ति करना एषणा समिति है, भले प्रकार वस्तुओं के ग्रहण और धारण करने की प्रवृत्ति करना आदान निक्षेपण समिति है और भले प्रकार मल मूत्रादिकका निक्षेपण करना उत्सर्ग समिति है। यहाँ भले प्रकार का अर्थ है कि जिस विधि में अपने भावों में दोष न आये और प्राणियों की रक्षा रहे उस प्रकार की प्रवृत्ति करना समिति है। समिति शब्द का अर्थ है भले प्रकार आचरण करना। समिति शब्द में सम तो उपसर्ग है और एण धातु से इक्ति प्रत्यय लगाकर इति बना है। सम + इति = समिति। समिति में ईर्यासमिति का लक्षण है कि गमन करने में जीव के बध का परिहार होना ईर्यासमिति है। ईर्यासमिति वही मुनि कर सकता है जिसको जीव स्थान का ज्ञान हो। जीव कहाँ-कहाँ रहते हैं, उन स्थानों का परिचय होने पर ही जीव बध टाला जा सकता है। एतदर्थ मार्गणावों की विधि से, जीव समास की विधि से जीवों का परिचय होना आवश्यक है। किस जल में, किस वातावरण में, किन वनस्पतियों में कैसे जीव हुआ करते हैं, इन सबका परिचय होने पर ही तो जीव बध टाला जा सकता है। तो जिसको जीव स्थान का ज्ञान हो और धर्म के लिए ही गमन कर रहा हो, सूर्य के उदय होने पर ही गमन किया जाय, और अन्य जगह चित्त न डुलाया जा रहा हो, जिस मार्ग पर बहुत से मनुष्य चले गए हों, वहाँ धीरे-धीरे कदम रखने वाले और अपने शरीर को संकुचित सा करते हुए चलने वाले, चार हाथ आगे जमीन देखकर चलने वाले पुरुष के ईर्यासमिति हुआ करती है।

चौदह जीवस्थान—यहाँ जिज्ञासा होती है कि जीवस्थान का ज्ञान हुए बिना जब ईर्यासमिति नहीं बनती तो वे जीवस्थान कौन से हैं जिनका ज्ञान करना अतीव आवश्यक है, तो उन जीवस्थानों को बताते हैं। वे जीवस्थान १४ प्रकार के जीव समास कहे जाते हैं। यदि बहुत से जीवस्थानों का ज्ञान न हो, जैसा कि मार्गणामें बताया गया है, सूक्ष्म परिचय न हो तो भी १४ प्रकार के जीव समासों का ज्ञान तो आवश्यक ही है अन्यथा जीव हिंसा कैसे टलेगी? वह जीव समास हैं वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त। जीव समास में पञ्चेन्दिय जीवों का आधार लिया गया है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, उनमें एकेन्द्रिय के दो भेद कहे गए हैं—(१) वादर एकेन्द्रिय,

(२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय के दो भेद किद गये हैं—(१) संज्ञीयपञ्चेन्द्रिय और (२) असंज्ञी-पञ्चेन्द्रिय, इस प्रकार के ये ७ भेद हो जाते हैं और ये सातों ही पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी। ऐसे इन १४ जीवसमासों में वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का परिचय सुनो—जिन जीवों का शरीर वादर है, अर्थात् दूसरे शरीर को रोक सके, दूसरे शरीर से रुक सके अर्थात् जो वादर नामकर्मका उदय है ऐसे शरीर वाले एकेन्द्रिय पर्याप्त को वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त कहते हैं। यह ही जीव जन्म समय में अपर्याप्त था। इसमें से कितने ही जीव लब्धपर्याप्तक होते हैं, कितने ही जीव निवृत्त पर्याप्त होते हैं। लब्ध पर्याप्त उन्हें कहते हैं जिनके पर्याप्ति पूर्ण न होगी, अपर्याप्त अवस्था में नियम से मरण होगा। निवृत्त पर्याप्तक वे जीव हैं जिनके अभी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई किन्तु पर्याप्ति नियम से पूर्ण होगी। पर्याप्ति पूर्ण हुए बिना मरण नहीं हो सकता। लेकिन अभी पर्याप्त नहीं हो पाये तब तक वे निवृत्त पर्याप्त कहलाते हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त। जिन जीवों का शरीर सूक्ष्म है आग से जल नहीं सकता, वायु से उड़ नहीं सकता, पकड़ने से पकड़ा नहीं जा सकता, किन्तु अपनी ही छोटी आयु के क्षय होते रहने के कारण मरण होता रहे, ऐसे शरीर वाले एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त कहलाते हैं। जिन जीवों के स्पर्शन रसना आदिक दो इन्द्रियाँ हैं वे जीव भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं वे भी दोनों प्रकार की होती हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु चार इन्द्रिय वाले जीव भी पर्याप्त व अपर्याप्त होते हैं। संज्ञीपञ्चेन्द्रिय भी दो प्रकार के और असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय भी दो प्रकार के होते हैं। वे सब विशेष नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए हैं, पहले चार जीव समास तो एकेन्द्रिय जाति सूक्ष्मवादर पर्याप्ति अपर्याप्ति नामकर्म के उदय से हुए हैं। दो इन्द्रिय आदिक जीवों में वादर नामकर्म का ही उदय है और साथ ही दोइन्द्रिय जाति, तीनइन्द्रिय जाति और पर्याप्त व अपर्याप्त नामकर्म का उदय है। पंचेन्द्रिय जीवों में पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म का उदय है। ऐसे जीव समासों का ज्ञान करने वाले मुनि ही जीव हिंसा टालकर समिति का पालन करते हैं।

भाषा समिति की संवर हेतुता—हित, परिमित, संदेहरहित वचन बोलना भाषासमिति है। हित वह है जहाँ निराकुलता है। निराकुलता मोक्ष पद में है। तो मोक्ष पद की ओर ले जाने वाले स्व पर हितकारक अनिरर्थक बकवादरहित स्पष्ट संदेहरहित वचन बोलना भाषा समिति कहलाती है। मिथ्या-वचन, ईर्ष्या वाले वचन, प्रियताका नाश करने वाले वचन जिनमें थोड़ा ही सार हो ऐसे वचन, जिन वचनों में शंका भरी हो तथा कषाययुक्त वचन ये सभी वचन अहितकारी वचन हैं, ऐसे वचनों से न स्वयं का हित है, न परका हित है। भाषा समिति में ऐसे वचनों का अवकाश ही नहीं आता है। जो वचन दूसरे का उपहास करने वाले हों, सज्जनों के अयोग्य हों, सभ्यता से दूर हों, निष्ठुर हों, जिनको सुनकर सुनने वाले के चित्त में ठेस पहुँचे, पापकर्म की प्रेरणा करने वाले वचन, इस देश काल के विरोधी वचन, दूसरे का मर्यादा से बाहर स्तुति करने वाले वचन, ये सब वचनों के बड़े दोष हैं। इन वचनों से किसी का हित नहीं है। इन सभी दुर्वचनों से रहित सम्भाषण करना भाषा समिति है। मनुष्य का धन वचन है। वचन से ही मनुष्य के मन की परीक्षा होती है। वचनव्यवहार से ही जीव आपत्तियों में अथवा शान्ति के वातावरण में पहुँचता है। जिन पुरुषों के भाषासमिति नहीं है वे पुरुष पद-पद पर दूसरों के द्वारा पीड़ित किए जाते हैं। उत्तम क्षमा का प्रयोग गृहस्थों को भी आवश्यक है। फिर जो सर्व आपत्तियों से रहित होना चाहते हैं उन साधुवों के लिए भाषासमिति अतीव आवश्यक है।

एषणासमिति की संवर हेतुता—उद्‌गम्, उत्पादन, भोजनदोष व अन्तराय से रहित विधि से भिक्षा चर्या करना, आहार ग्रहण करना एषणासमिति कहलाती है। साधुजन गुणों रत्नों को ढोने वाली इस शरीररूपी गाड़ी को चलाने के लिए ही इस अभिलाषा से भोजन करते हैं कि समाधि के योग्य हम चारित्र और तपश्चरण कर सकें। साधुजन जठराग्निकी ज्वाला शान्त करने के लिए औषधिकी तरह भोजन करते हैं, अथवा जैसे गाड़ी में औंगन न दिया जाय तो गाड़ी का चलना मुश्किल होता है ऐसे ही शरीररूपी गाड़ी को भोजनरूपी औंगन न दिया जाय तो शरीरगाड़ी चल नहीं सकती और तप संयम आदिक योग्य चारित्र में लगने के लिए इस परिस्थिति में शरीरगाड़ी का चलाना आवश्यक है, इस कारण साधुजन अनासक्त रहकर भोजन करते हैं। साधुवों की भिक्षावृत्तिका नाम गोचरीवृत्ति भी है, जैसे गाय को कोई महिला कितना ही साज श्रृङ्गार किए हुए घास डाले फिर भी गाय की दृष्टि उस महिला के साज श्रृङ्गार पर नहीं जाती किन्तु घास पर जाती है ऐसे ही साधुजन केवल आहार योग की ही दृष्टि रखते हैं, किसी महिला के रूप साज श्रृङ्गार आदिक पर दृष्टि नहीं रखते। साधु की भिक्षावृत्ति का नाम भ्रामरी वृत्ति भी है, वह जिस श्रावक के घर विधि बने उसके यहाँ उसे कष्ट न पहुँचाते हुए अल्पाहार कर आते हैं। जैसे कि भंवरा किसी भी फूल पर बैठकर फूल को कष्ट न पहुँचाता हुआ थोड़ा सा रस ग्रहण करता है। ऐसे ही साधुजन भी श्रावक को बिना किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाये अल्पाहार ग्रहण कर लेते हैं। साधुजन स्वाद के लिए आहार ग्रहण नहीं करते, किन्तु एक शरीर बना रहने के लिए योग्य अल्प आहार ग्रहण करते हैं। यदि साधु ऐसी हठ करे कि मुझे आहार से क्या प्रयोजन ? मैं तो निराहार ही रहूँगा और स्थिति हो उसकी स्वस्थ रहने की तो ऐसे असमय में प्राण का छूट जाना एक संक्लेशकारक होता है और उसके फल से मानो कदाचित देव भी बन गए तो असंयम में ही तो समय जायगा, इस कारण साधुजनों को अपने संयमभाव से अनुराग है और उसी को निभाने के ख्याल से अपना जीवन रखते हैं। साधुजन नवकोटि शुद्ध आहार लेते हैं अर्थात् वे मन से, वचन से, काय से न भोजन विधि को करते हैं, न कराते हैं न उस तरह की अनुमोदना करते हैं, इस कारण साधु निरूदिष्ट आहार करने वाले कहलाते हैं।

—**संवर हेतु रूप आदान निक्षेपण समिति व उत्सर्ग समिति**—आदान निक्षेपण समिति-ज्ञान और संयम के साधक उपकरणों को देखभाल कर पिछी से शोधकर धरना और उठाना आदान निक्षेपण है। साधुजनों के पास केवल ज्ञान और संयम के साधक उपकरण होते हैं। कमण्डल, पिछी और शास्त्र, और वे भी समस्त द्रव्य उपकरण धर्म के अविरोधी होते हैं, दूसरों को बाधा न पहुँचे ऐसे होते हैं। जिनको चुराने का किसी के भाव ही न आये, ऐसे ये उपकरण होते हैं। शास्त्रों को कौन चुरायगा ? जो चुराने का भाव रखता है उसको शास्त्र से क्या प्रयोजन ? वह तो ज्ञान का साधन है। जो शास्त्र और ज्ञान से रूचि रखते हैं उनके चोरी की आदत ही नहीं होती। कमण्डल से किसी अन्य को क्या प्रयोजन ? काठका कमण्डल, उसका दूसरे के लिए कुछ उपयोग ही नहीं है, अथवा अन्य जीव कोई उपयोग करे कमण्डल का तो सभी समझेंगे कि यह तो चोरी का लाया हुआ है। तो कमण्डल भी ऐसा उपकरण है कि जिसकी चोरी का संदेह ही नहीं रहता। पिछी किसी असंयमी जीव के काम की ही नहीं है। तो ऐसे उपकरणों को साधुजन रखते हैं जो साधुवों के लिए तो उपयोगी हैं और अन्य पुरुषों के लिए अनुपयोगी हैं। उपकरणों का धरना उठाना देखभालकर होता है जिसमें किसी जीव की हिंसा न हो। यही साधुवों की आदान निक्षेपण समिति है। **उत्सर्गसमिति**–साधुजनों के शरीर से भी पसीना, थूक, मल, मूत्र आदिक

निकलते हैं सो उनका ऐसी जगह क्षेपण करना जहां कोई जंतु न हों अथवा कोई कहीं एक आध जंतु हो तो उसे पिछी से एक ओर करना, फिर अपने थूक आदिक मलों का क्षेपण करना यह उत्सर्गसमिति है। स्थावर जीव भी और त्रस जीव भी जहाँ कहीं मिलते ही हैं उन जीवों को किसी प्रकार की बाधा न हो, यह समिति में प्रयोजन है। तथा अपने अंगों को भी शरीर को कहीं रखना है तो वहाँ भी जीव रक्षा करते हुए, जमीन को शोधते हुए प्रवृत्ति करते हैं।

गुप्ति में न रहते हुए साधु के समिति के उपयोग की अनिवार्यता—यहाँ शंकाकार कहता है कि जो ये समितियाँ बतायी गई हैं सो ये सब वचनगुप्ति और कायगुप्ति में शामिल हो जाती हैं, जैसे ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति, ये सभी समितियां कायगुप्ति में आती हैं, केवल भाषा समिति वचनगुप्ति में आती हैं। गुप्ति में भी तो प्राणियों की पीड़ा का परिहार है, तब ये दोनों पर्यायवाची ही रहे। इनको अलग से कहने की क्या जरुरत रही ? इस शंका के समाधान में कहते हैं कि गुप्ति का काल तो परिमित होता है। जिस समय मन, वचन, काय को वश में रखने का उद्यम है वह थोड़े समय के लिए होता है, शेष समय तो कुछ प्रवृत्ति करनी ही होती है। तो जो गुप्ति में असमर्थ हैं वे पुरुष उस समय यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, यह समिति कहलाती है। गुप्ति में सर्व प्रकार की निवृत्ति है। और समिति में निवृत्ति का ध्यान रखते हुए प्रवृत्ति है। जो साधुजन गुप्ति में अपना प्रयत्न रखते हैं, पर गुप्ति पालन न हो सके तो उस समय सावधानी पूर्वक चलना, बोलना, वस्त्र रखना, उठाना या मलोत्सर्ग करने की क्रिया में सावधानी से प्रवृत्त होते हैं जैसे गुप्ति के भाव के कारण कर्मों का सम्वर होता है ऐसे ही समिति के भाव के कारण कर्म प्रकृतियों का सम्वर होता है।

साधुवों द्वारा करपात्र में आहार ग्रहण करने की अनिवारित विशेषता—यहाँ शंकाकार कहता है कि साधुजन हाथ में ही भोजन करते हैं, पात्र तो रखते नहीं हैं, क्योंकि पात्र रखें तो परिग्रह का दोष होता है, तो पात्र जब नहीं हैं और हाथ में ही आहार लेते हैं तो उन साधुवों के हाथ से अन्न आदिक कुछ न कुछ अंश में नीचे गिरते ही हैं और उसके नीचे गिरने से हिंसा आदिक दोषों की सम्भावना है, फिर जो हाथ में ही आहार ग्रहण करें उनके एषणा समिति कैसे बन सकती है ? इस शंका के समाधान में कहते हैं कि पात्र अगर ग्रहण करते हैं तब तो उसमें परिग्रह का दोष आता है और जहाँ परिग्रह का भाव हैं वहाँ निरन्तर अपनी हिंसा कहलाती है। यदि निर्ग्रन्थ मुनि पात्र ग्रहण करता है तो उसकी रक्षा करने में, उसका ख्याल बनाये रहने में अनेक दोष होते हैं, इस कारण यह तो पूर्ण नियम है कि मुनि करपात्र से ही आहार ग्रहण करें, हां करपात्र से आहार ग्रहण करता हुआ सावधानी से आहार ग्रहण करे, उसी ओर चित्त रखता हुआ आहार ग्रहण करे, जंतुरहित भूमि पर खड़ा हुआ आहार करे तब उसको दोष की सम्भावना नहीं है। यदि साधु कोई पात्र लेकर भिक्षा के लिए जांय तो उसमें दीनता का दोष आता है। कोई कहे कि जिस घर गए उसी घर से ही पात्र ग्रहण कर लें, वह तो सर्वत्र सुलभ है सो यह तो ठीक है पर उस पात्र के धोने आदिक में आरम्भ और पाप तो सम्भावित हैं अतएव पात्र तो साधुजन रखते नहीं; क्योंकि साधुवों का उद्देश्य अपने आप में समता परिणाम बनाये रहना है। यदि गृहस्थ के पात्र से ही आहार लें तो कभी कोई पात्र ठीक मिलता है, कभी कोई पात्र असुविधाजनक मिलता है, तो ऐसे पात्र के ग्रहण करने में चित्त में दीनता, हीनता, और मलिनता का अनुभव होना सम्भावित है। इसी कारण स्वावलम्बी भिक्षु को करपात्र के सिबाय किसी में आहार लेना नहीं कहा है। यदि कोई यह युक्ति दे कि साधु को कभी अच्छा आहार मिलता, कभी नीरस मिलता,

तिस पर भी भिक्षु के चित्त में हीनता तो नहीं आती, तो ऐसे ही कोई पात्र रखले या गृहस्थ के यहाँ से ले तो कैसा ही मिले, उसमें भी दीनता नहीं आ सकती। उनकी ये युक्तियाँ ठीक नहीं हैं कि आहार लेना तो अनिवार्य है, चाहे कहीं सरस मिले चाहे कहीं नीरस मिले और उस अनिवार्य आहार साधन में मुनिजन समता रखने का ही प्रयास रखते हैं, पर पात्र रखना अनिवार्य तो नहीं है, फिर क्यों ख्वाह-म-खाह अपनी विषमताका साधन जुटाया जाय ? अतः साधुवों को पात्र रखना निषिद्ध है, करपात्र में ही शुद्ध, नीरस, विधिपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं। अब क्रम प्राप्त धर्म का वर्णन करते हैं।

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ९—६ ॥

संवर के हेतुभूत धर्म के प्रथम अङ्ग उत्तम क्षमा का महत्व—सम्वर के हेतु का कथन करने वाले दूसरे सूत्र में सर्वप्रथम गुप्ति बताया है, सो गुप्तियों में प्रवृत्तिका सर्वथा निरोध होता है। वहाँ कोई प्रवृत्ति ही नहीं रहती। अब जो गुप्ति में समर्थ हैं उन साधुवों को प्रवृत्ति के प्रसंग में ईर्यासमिति आदिक समितियों का उपदेश किया है। अब जो समिति पूर्वक प्रवृत्ति कर रहे हैं उनको समिति में प्रमाद न आये, सावधानी बनी रहे, सावधानी से समिति का पालन करें, ऐसी पात्रता रहे, उसके लिए उत्तम क्षमा आदिक धर्मों का उपदेश है। साधुजनों को लौकिक दृष्टि से क्रोध के अनेक प्रसंग आते हैं। साधु आहार के लिए गोचरी करता है, परघर जाता है, तो परघर जाते समय साधु को देखकर दुष्ट-जन गाली देते हैं, हँसी करते हैं, उनका अपमान करते हैं, फिर भी उनकी प्रवृत्ति निरखकर साधु जनों के क्रोध रंच भी नहीं आता। उनके चित्त में कलुषता उत्पन्न नहीं होती। दुष्टप्रवृत्ति करने वाले जीवों पर साधु के रोष नहीं आता। अन्य समय भी कहीं ध्यान में बैठे हों साधुजन तो दुष्ट लोग वहाँ भी उपद्रव करते हैं। शरीर को ताड़ने, छेदने आदि के अनेक ऐसे प्रसंग मिलते हैं जो कि क्रोध के कारणभूत हो सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में भी साधुजनों के चित्त में कलुषता नहीं आती, यह ही उत्तम क्षमा कहलाती है। बाहरी बातों का ख्याल ही न करें और अपने अविकार सहज स्वभाव की दृष्टि बनाये रहे, यह सब उत्तम क्षमा है। क्षमा न करनें वाले पुरुष किसी दूसरे का बिगाड़ नहीं करते, अपना ही बिगाड़ करते हैं; क्योंकि क्रोधादिक जगने पर आत्मा के ही ज्ञान गुण का घात होता है। दूसरे पुरुष का बिगाड़ होना उसके पापोदय के आधीन है। कोई भी पुरुष किसी दूसरे जीवका बिगाड़ नहीं कर सकता जिससे कि ज्ञाता पुरुष प्रत्येक परिस्थिति में बाह्य की उपेक्षा कर अपने अविकार स्वभाव की दृष्टि रखकर उत्तम क्षमा का अनुभव करता रहता है।

संवर के हेतुभूत धर्म के द्वितीय अङ्ग उत्तम मार्दव का महत्व—धर्म का दूसरा अंग है उत्तम मार्दव। मार्दव शब्द मृदु शब्द से बना है—मृदोर्भावः मार्दवः। कोमल के भाव को मार्दव कहते हैं, नम्रता, कोमलता मार्दव कहलाती है। मार्दव का विरोधी है मान कषाय। जिसके मान कषाय है, जिसके मद हो रहा है उस पुरुष के मार्दव धर्म नहीं होता। मान कषाय बनती है किन्हीं लोक में उत्तम कही जाने वाली चीजों के मिलने पर। जैसे उत्तम जाति, उत्तम कुल में कोई उत्पन्न हुआ तो उसका ही घमंड बना करता है। वैसे तो सभी पुरुष जिस जाति कुल में उत्पन्न हुए हैं उसको ही सबसे अच्छा मानते हैं फिर भी थोड़ा भेद तो सबको ज्ञात ही है, लोक पूज्य कुल में उत्पन्न होकर कुलका मद आ जाया करता है। किसी को रूप सुन्दर मिला हो तो वह अपने सुन्दर रूप को देखकर घमंड किया करता है। यदि कुछ ज्ञान प्राप्त हो गया तो स्व की दृष्टि के लिए ज्ञान का तो प्रयोग नहीं करता कोई जीव और उस पाये हुए अक्षरात्मक ज्ञान पर गर्व किया करता है। किसी को ऐश्वर्य मिला हो, नेतागिरी मिली हो, जिसकी

कुछ आज्ञा आदिक चलती हो तो उस ऐश्वर्य को पाकर ही घमंड हो जाता है। किसी का सत्कार आदर विशेष होता हो तो वह अपने सत्कार का ही गर्व किया करता है, शरीर बल प्राप्त हुआ हो, तपश्चरण जिसके बनता हो तो ऐसे अनेक कारणों से वह पर तत्वों के समागम पर गर्व किया करता है, पर साधजन जिन्होंने अविकार स्वभाव की अनुभूति प्राप्त की है उनके किसी पर परतत्व पर घमंड उत्पन्न नहीं होता, और इतना ही नहीं, कोई दूसरा पुरुष यदि अपमान करे तो उस अपमान की परिस्थिति में भी उसके अभिमान नहीं जगता, यह ही उत्तम मार्दव कहलाता है।

उत्तम आर्जव नामक धर्माङ्गकी संवर हेतुता—काय, वचन, मन इनकी वक्रता न होना अर्थात् योग की सरलता होना आर्जव धर्म कहलाता है। जहां कपट नहीं है, मन, वचन, कायकी समानता है वहाँ आर्जव धर्म होता है। जिन जीवों के मन में कुछ है, वचन से कुछ कहते हैं और कायसे कुछ प्रवृत्ति करते हैं उनका आशय मलिन है और वे आर्जव धर्म से रहित हैं। जिनके सरलता नहीं है वे धर्म के पात्र नहीं हो सकते। जैसे कि टेढ़े छिद्र वाले मणि के दाने में सूतका प्रवेश नहीं हो सकता इसी तरह मायाचार से वक्र हृदय में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता। इस आर्जव धर्म के पालन से चूंकि अपने स्वभाव के साथ समानता आयी है, उपयोग स्वभाव की ओर बनता है इस कारण सम्वर होता है।

संवर हेतुभूत उत्तम शौच धर्माङ्गका प्रतिपादन—उत्तम शौच अत्यन्त लोभ निवृत्तिका नाम है। जहां लोभ की बिल्कुल निवृत्ति हो गई है उसे शौच कहते हैं। इसमें मूल शब्द शुचि है। शुचि के भाव को या शुचि के व्यापार को शौच कहते हैं। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि शौच धर्म का तो गुप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है। फिर इसको अलग से कहना अनर्थक है? समाधान—यह शंका यों युक्त नहीं है कि वहां मनोगुप्तिका अर्थ है मनका परिस्पंद न होना। मनोगुप्ति में समस्त मानसिक परिस्पंदका निषेध किया गया है, पर जो मनोगुप्ति में असमर्थ है वह पुरुष दूसरे की वस्तु में अनिष्ट विचार न करे। अनिष्ट विचार की शान्ति के लिए शौच धर्म का उपदेश है। तो इस प्रकार मनोगुप्ति और उत्तम शौच के विषय जुदे हैं, अतः मनोगुप्ति में उत्तम शौच का अन्तर्भाव नहीं होता। यहाँ दूसरा शंकाकार कहता है कि मनोगुप्ति का आकिञ्चन्य भाव में अन्तर्भाव हो जायगा, क्योंकि आकिञ्चन्य में भी इसका किसी में लगाव नहीं है, और उत्तम शौच में भी लगाव न रहे ऐसी पवित्रता है तो उसका आकिञ्चन्य में अन्तर्भाव हो जायगा। तो शौच शब्द का ग्रहण करना अनर्थक है। समाधान–आकिञ्चन्य धर्म में और उत्तम शौच धर्म में अन्तर है। आकिञ्चन्य धर्म में तो निर्ममता की प्रधानता है। अर्थात् वहाँ किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व कुछ नहीं रहता। मेरा कुछ नहीं है, इस प्रकार ममता का परिहार है। वहाँ अपने शरीर आदिक में संस्कार आदिक भी न किया जाय इसके लिए आकिञ्चन्य धर्म बताया गया है, किन्तु उत्तम शौच में विद्यमान पदार्थों में लोभ का परिहार बताया है। लोभ चार प्रकार का होता है— (१) जीवन लोभ (२) आरोग्यलोभ (३) इन्द्रियलोभ और (४) उपभोगलोभ। और, ये चारों के चारों दो-दो प्रकार के हैं। अपने विषय में जीवन आदिक का लोभ होना, दूसरे के लिए जीवन आदिक का लोभ होना, इस प्रकार लोभ ८ प्रकार का कहा गया है। जैसे अपने जीने का लोभ, दूसरे जिन जीवों में ममत्व है पुत्र मित्रादिक उनके जीवन का लोभ, अपने आरोग्यका, स्वास्थ्यका लोभ, मेरे रोग न रहे, मेरा शरीर रोगरहित चले इस प्रकार का खुद के लिए लोभ या पुत्र स्त्री आदिक दूसरों के आरोग्य का लोभ। इस प्रकार मेरे को इन्द्रियसुख प्राप्त हो, उसका लोभ और जिनमें इष्टभाव है उन जीवों के लिए इन्द्रियसुख मिले उसका लोभ। इसी प्रकार उपभोग के साधनों का खुद के लिए लोभ

और जिनमें प्रीति है उन जीवों के लिए लोभ, ऐसे ८ प्रकार के लोभ कहे गए हैं, उनकी निवृत्ति होने का नाम उत्तम शौच धर्म है, अर्थात् ये लोभ जहाँ बिल्कुल नहीं रहे उसे उत्तम शौच कहते हैं।

संवर हेतुभूत उत्तम सत्य धर्माङ्गका प्रतिपादन—उत्तम सत्य-संत जनों में उत्तम वचन कहना सत्य धर्म है। वह सत्य १० प्रकार का बताया गया है। वे सभी वचन सत्यवचन कहलाते हैं और ऐसे ही सत्य वचनों का प्रयोग करना उत्तम सत्य धर्म है। यहाँ शंकाकार कहता है कि उत्तम सत्य धर्म का तो भाषा समिति में अन्तर्भाव हो जायगा फिर अलग से कहने की क्या आवश्यकता? समाधान–भाषासमिति का तो प्रयोजन है हितमित प्रिय बचन बोलना। चाहे वह साधुवों के प्रति बोला जाय या असाधुवों के प्रति बोला जाय, जो भाषाका व्यवहार करता है आपसी बोलचाल वह हित और मित होना चाहिये। अन्यथा अर्थात् दूसरों से वचन व्यवहार करते समय हितमित बोलने का ध्यान न रखा जाय और अहित बोले, अपरिमित बोले तो उसमें राग का प्रसंग आता है। अनर्थ दण्ड आदिक दोषों का प्रसंग आता है, इस कारण भाषा समिति में हितमित वचन बोलने की प्रधानता है, किन्तु उत्तम सत्य धर्म में चाहे साधुवों के प्रति हो या उनके भक्तों के प्रति हो ज्ञान चारित्र आदिक की शिक्षा देने के प्रसंग में बहुत भी बोल देना चाहिए क्योंकि वहाँ धर्म की वृद्धि होती है। स्थूल रूप से यह अन्तर समझिये कि जब भाषा का व्यवहार किया जाता है बोलचाल जैसा तो वहाँ हितमित का ध्यान रखना वह भाषासमिति हैं और जहाँ भाषण ज्ञान चारित्र का शिक्षण आदिक धर्मवृद्धि के लिए बोला जाता है वहाँ बहुत भी बोलना चाहिए, किन्तु वह आगम के अनुकूल और यथार्थ वचन हो। यही भाषा समिति और उत्तम सत्य में अन्तर है।

संवर हेतुभूत उत्तम संयम धर्माङ्गका प्रतिपादन—उत्तम संयम—संयम किसे कहते हैं, इसका लक्षण कहने से पहले यदि संयम विषयक अनेक पुरुषों के द्वारा कहे गए लक्षणों की मीमांसा कर ली जाय तो उत्तम संयम का लक्षण हृदय में भले प्रकार घटित होगा। कोई पुरुष कहते हैं कि भाषा आदिक की निवृत्ति हो जाना संयम है अर्थात् वचन आदिक न बोलना इसे संयम कहते हैं। किन्तु उनका यह लक्षण इस कारण ठीक नहीं है कि भाषा आदिक की निवृत्ति करना तो गुप्ति कहलाता है। ऐसे लक्षण वाले संयम का तो गुप्ति में अन्तर्भाव हो जायगा फिर संयम अलग से कुछ न रहा। कोई पुरुष कहते हैं कि काय आदिक की विशिष्ट प्रवृत्ति होना संयम है, यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि काय आदिककी विशिष्ट प्रवृत्ति होना, जीव रक्षा करते हुए होना यह तो समिति में शामिल होगा। तो विशिष्ट काय आदिक प्रवृति समिति रूप होने से तो संयम कुछ न रहा। कोई पुरुष कहते हैं कि त्रस और स्थावर की हिंसा का निषेध करना, हिंसा न होने देना सो संयम कहलायगा। याने जहाँ जीवों की हिंसा का बिल्कुल निषेध हो गया वह संयम है। तो यह लक्षण भी ठीक नहीं बैठता, क्योंकि इस प्रकार के संयम का तो परिहार विशुद्धि नामक चारित्र में अन्तर्भाव हो जायगा। परिहार विशुद्धि चारित्र के भेद में कहा जायगा। उसका प्रयोजन यह ही है कि वहाँ त्रस और स्थावर किसी भी जीवका वध नहीं हो सकता है, फिर संयम अलग से कुछ न रहा। तब सभी में यह जिज्ञासा होती है कि संयमका सही लक्षण फिर क्या है। सो संयम का लक्षण कहते हैं। समिति में प्रवृत्ति करते हुए जीवों के जो प्राणिहिंसा और इन्द्रिय विषय का परिहार होता है उसको संयम कहते है।

प्राणिसंयम व इन्द्रियसंयमरूप में संयमका द्वैविध्य—संयम दो प्रकार का है—(१) प्राणिसंयम और (२) इन्द्रियसंयम। एकेन्द्रिय आदिक जीवों की पीड़ा का परिहार करना, किसी

भी जीव को दुःख न हो सके, इस प्रकार की वृत्ति होना इन्द्रियसंयम है, और शब्दादिक इन्द्रिय के विषयों में राग का प्रसंग न होना इन्द्रियसंयम है। इन्द्रिय के विषय ५ हैं-(१) स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श हैं। ठंडा, गरम, कोमल आदिक स्पर्श सुहाये तो वह इन्द्रिय विषय अविरति है, और उस विषय में राग न होना वह स्पर्शन इन्द्रिय संयम है। (२) रसना इन्द्रिय का विषय है रस। रसास्वाद में राग न होना वह रसना इन्द्रिय संयम है। (३) घ्राणेन्द्रिय का विषय है गंध। सुगंध सुहाये, सुगंध में राग होना अविरति है, और सुगंध आदिक में राग न होना घ्राणेन्द्रिय संयम है। चक्षुइन्द्रिय का विषय रूप है। कैसे ही रूप में राग का संग न होना चक्षुइन्द्रिय संयम है। कर्णेन्द्रियका विषय शब्द है। किसी भी शब्द में रागादिक न होना स्रोत्रेन्द्रिय संयम है। मनका विषय बहुत विकट और विशाल हैं। नामवरी चाहना, यश फैलाना आदिक विषय मन के हैं। इन विषयों में राग न आना सो मन विषयक संयम है। तो समिति में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के जो हिंसा व राग के परिहार रूप वृत्ति होती है वह संयम है अर्थात् न जीव हिंसा होती न इन्द्रिय विषयों में राग होता।

उपेक्षासंयम व अपहृत संयम के रूप में सयम का द्वैविध्य—संयम के उक्त लक्षण से अपहृत संयम नाम के भेद की भी सिद्धि हो जाती है। संयम दो प्रकार के कहे गए हैं—(१) उपेक्षा संयम और (२) अपहृत संयम। जो संत जन देश और काल के विधान को समझते हैं, जो स्वाभाविक रूप से देहादिक से विरक्त रहते हैं, जो तीन गुप्तियों के धारक हैं उनके राग और द्वेष न होना, चित्त में रागद्वेष की वृत्ति न बनना उपेक्षा संयम कहलाता है। और अपहृत संयम जीवों की हिंसा के परिहार रूप है सो यह उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य के भेदों से तीन तरह का है। उत्कृष्ट अपहृत संयम वह है जहां जंतुवों के आने पर उनसे अपने को बचाकर संयम पाला जाता है। ये साधु निर्जन्तु बसति में बसते हैं। वाह्य साधन भी जिनके धर्म में प्रयोजन मात्र हैं, ज्ञान-चारित्र रूप साधना जिनकी स्वाधीन है ऐसे साधु के आहार विहार आदिक करते समय कोई बाह्य जंतु समक्ष आयें तो उनसे अपने को बचाकर अपने संयम में रहना उत्कृष्ट अपहृत संयम है। और जंतुवों को पिछी जैसे मृदु उपकरणों से अलग कर देना मध्यम अपहृत संयम है और धीरे से हाथ आदिक से अलग हटाना जघन्य अपहृत संयम है। तो यह अपहृत संयम नामका भेद वहां ही सम्भव है जहाँ उत्तम संयम नामका धर्म माना जाय।

अपहृत संयम के आधारभूत अष्टविध शुद्धियों में भावशुद्धि का कथन—अपहृत संयम के प्रतिपादन के लिए या अपहृत संयम भली भाँति हो सके उसके लिए ८ प्रकार की शुद्धियों का उपदेश है। वे ८ शुद्धियाँ इस प्रकार हैं। (१) भावशुद्धि (२) कायशुद्धि (३) विनयशुद्धि (४) ईर्यापथशुद्धि (५) भिक्षाशुद्धि (६) प्रतिष्ठापनशुद्धि (७) शयनासनशुद्धि और (८) वाक्यशुद्धि। इन शुद्धियों के लक्षण से यह विदित होता चला जायगा कि प्राणियों की रक्षा करना, उनकी हिंसा परिहार करने में यह शुद्धता मौलिक प्रेरणा करती है। भावशुद्धि का अर्थ है रागादिक बाधारहित परिणाम होना। ये परिणाम कर्मों के क्षय और उपशम से होते हैं। मोक्ष मार्ग में विशेष रूचि होने से जो चित्त में प्रसन्नता होती है वही तो भाव शुद्धि है। इस भावशुद्धि के होने पर आचरण प्रकट होता है। जैसे कोई भींट साफ स्वच्छ है तो उस पर चित्र अच्छी प्रकार बन पाते हैं ऐसे ही भावशुद्धि हो तो आचरण ठीक बनता है।

अपहृतसंयम की संयोजिका कायशुद्धि का वर्णन—कायशुद्धि निर्ग्रन्थ दिगम्बर पर पदार्थ में लेपरहित शरीर की स्थिति को कायशुद्धि कहते हैं। न कोई वस्त्रादिक का आवरण है न अन्य कोई कंठमाला आदिक का आभरण है, कायशुद्धिका संस्कार कोई नहीं किया जा रहा है जैसे शरीर को साफ

रखना आदिक । जैसे कोई बालक उत्पन्न हुआ तो वह समस्त परलेप से रहित है अथवा जो कुछ वहां मल लगा है ऐसे ही निर्ग्रन्थ साधुजन बालकवत निरावरण होते हैं, नग्न दिगम्बर होते हैं और स्वयं जो मल चढ़ा है वह चढ़ा है, उससे भी रागद्वेष कर उसे हटाने लगने की वृत्ति नहीं है । कायशुद्धि मुनिजनों के होती है । वहां अंग के विकार रंच भी नहीं होते । उनकी मुद्रा शान्ति सुख को प्रदर्शित करती है । ऐसी कायशुद्धि होने पर न तो उस मुनि से किसी दूसरे को भय उत्पन्न होता है और न अन्य पुरुषों से उसे भय होता है । चूंकि कायशुद्धि वाले मुनि शस्त्ररहित हैं, अन्य कोई पदार्थ लाठी आदिक भी साथ नहीं हैं तो ऐसी प्रसममूर्ति को देखकर दूसरे को डर उत्पन्न हो नहीं सकता कि यह मुझे मार न दे, आदिक कोई शंका नहीं होती । और जब यह स्वयं निर्ग्रन्थ दिगम्बर है तो इसे भी दूसरों से क्या भय ? जिसके पास धन हो या अन्य कोई वस्तु हो तो उसे भय हो सकता है । तो साधुजनों को न दूसरों से भय है और न दूसरों को साधुजनों से भय है, ऐसी यह कायशुद्धि है । ऐसी कायशुद्धि होने पर प्राणिबधका परिहार होता ही है ।

अपहृत संयम की योजिका विनयशुद्धिका वर्णन— विनयशुद्धि अरहंत आदिक परम गुरूवों में यथायोग्य पूजा आदिक भावना होना, ज्ञानादिक में भक्ति होना, सभी जगह गुरू के अनुकूल चलना यह सब विनयशुद्धि कहलाती है । विनय करने वाला पुरुष प्रश्न करने में, स्वाध्याय करने में, कथा आदिक कहने में, कुछ भी बात बताने में, बड़ी नम्रता से कहने में कुशल होता है । विनयशुद्धि उसके होती है जो देश, काल, भाव के परिचय में निपुण है । विनयशुद्धि वाला पुरुष आचार्य की अनुमति के अनुसार अपनी चर्या करता है । गुरू की आज्ञा के विरुद्ध स्वच्छंद चर्या करने वाले के विनय रहा ही क्या ? तो ऐसी विनयशुद्धि जहां होती है उसके सर्व सम्पदायें हैं । यह ही पुरुष का भूषण है । ऐसी विनयशुद्धि ही संसार समुद्र से तिराने के लिए नौका की तरह है । विनयरहित पुरुष न इस लोक में सुखी रहेगा, न आगे सुखी रहेगा । जिसके विनयशुद्धि होती है उसके ही प्राणि रक्षा का भाव होता है, क्योंकि सभी प्राणियों के परआत्म द्रव्य के प्रति उस स्वरूप दर्शन के कारण अन्तर में विनयभाव आ जाता है और उस विनय के कारण जीवों की पीड़ा का परिहार बनता है ।

अपहृत संयम की प्रवर्तिका ईर्यापथशुद्धि का वर्णन—विनयशुद्धि से प्रेरित भव्यात्मा के प्राणि रक्षा के भाव से हिंसाका परिहार होना ईर्यापथशुद्धि कहलाती है । जिस मनुष्य को नाना प्रकार के जीव स्थानों का ज्ञान है, किस-किस योनि के आश्रय जीव रहा करते हैं यह सब परिचय है उस पुरुष के उन जीवों को पीड़ा न पहुँचे, ऐसा भाव और प्रयत्न होता है, ईर्यापथशुद्धि करने वाला मुनि ज्ञान से देखे गए, सूर्यप्रकाश से देखे गए देश में गमन करता है और वह गमन भी आवश्यक होने पर होता है । ईर्यापथशुद्धि वाला मुनि न शीघ्र जाता है, न अत्यन्त धीरे चलता है न चित्त को अस्थिर करके चलता है, न आश्चर्य या लीलाविकार के साथ चलता है । अन्य यहाँ वहाँ दिशाओं को देखते हुए नहीं चलता, किन्तु चार हाथ सामने जमीन देखकर चला करता है । जिसके ईर्यापथशुद्धि होगी उसके जीवों की पीड़ा का परिहार रूप संयम होता है ।

अपहृत संयम के प्रसंग में भिक्षाशुद्धिका वर्णन—भिक्षाशुद्धि–भिक्षावृत्ति के समय जो अन्तर्बाह्य पवित्रता है, शुद्धि है वह भिक्षाशुद्धि है । भिक्षा के लिए जाते समय साधुजनों की दोनों ओर दृष्टि है । अपनी ओर दृष्टि है, वाह्य भेद आदिक में दृष्टि है । यह साधु आचार सूत्र में कहे गए काल देश प्रकृति आदिक की जानकारी में कुशल है तब ही तो संयम सध सके इस योग्य आहार ग्रहण करते हैं ।

जहां लाभ अलाभ, मान अपमान आदिक में समता रहती है, आहार का लाभ हो या न हो, दोनों ही स्थितियों में समता मुनियों के रहती है इसी प्रकार अन्य अनेक लोगों द्वारा रास्ते में मान या अपमान किया जाय तो दोनों में ही समान वृत्ति रहती है। भिक्षाशुद्धि में लोकनिन्द्य कुल में भिक्षार्थ जाने का निषेध है फिर भी चाहे निर्धन घर हो चाहे धनिक घर हो, उन घरों में छाँट नहीं होती। जैसे चन्द्रमा की किरणें सब घरों में समानतया पहुँचती हैं ऐसे ही गरीब धनिक सभी जगह मुनिजनों का भिक्षार्थ गमन होता है। भिक्षाशुद्धि में गृहस्थ द्वारा विधिपूर्वक पड़गाहा जाने पर घर के लिए जैसे शुद्ध आहार आदिक बनते हैं उनका ही ग्रहण है। दीनशाला, अनाथशाला, दानशाला, विवाहप्रसंग, यज्ञशाला आदिक में उनका गमन नहीं होता, वहाँ मुनिजन आहार ग्रहण नहीं करते। भिक्षाशुद्धि में मुख्य लक्ष्य दीनवृत्ति से रहित प्रासुय आहार ढूंढ़ना है। आगम में जैसी विधि बतायी गई है उस विधि से पाया हुआ निर्दोष भोजन प्राणयात्रा का साधन है, और ये मुनिजन प्राणयात्रा के लिए ही भिक्षाशुद्धि आहार ग्रहण करते हैं। भोजन लाभ हो या न हो या सरस भोजन का लाभ हो या नीरसका लाभ हो, सब में समान भाव रहता है, निर्दोष रहता है इस कारण इसे भिक्षाशुद्धि कहते हैं।

साधु की अपहृत संयम संयोजिका गोचर वृत्ति वाली भिक्षाशुद्धि—एषणासमिति में आहार के लिए जो भिक्षावृत्ति की जाती है उसके ५ नामों के द्वारा यह जाना जायगा कि किस प्रयोजन से, किस विधि से भिक्षावृत्ति की जाती है। वे ५ नाम ये हैं—(१) गोचरीवृत्ति (२) अक्षभृक्षणवृत्ति (३) उदराग्निप्रसमनवृत्ति (४) भ्रामरीवृत्ति और (५) गर्तपूरणवृत्ति जैसे गाय को घास डालने के लिए लीला अलंकार सहित सुन्दर युवती भी जाय तो गाय उसके अंग के सौन्दर्य का निरीक्षण नहीं करती और घास को खा लेती है तथा घास के फूलों पर भी दृष्टि नहीं देती। किसी भी देश का घास हो, कैसा ही वह पूला सजा हुआ हो उसे नहीं देखती किन्तु घास को खा लेती है, इसी प्रकार संयमी मुनि भी आहार देने वाले पुरुष अथवा स्त्री के कोमल सुन्दर रूप भेष विलास आदिक को नहीं देखते न उनके देखने में उत्सुकता रहती। साथ ही आहार सूखा हो, गीला हो, सरस हो, नीरस हो, आहार की कोई योजना विशेष की अपेक्षा नहीं करते। जैसा मिला वैसा ही शुद्ध आहार कर लेते हैं। इस प्रकार इनकी वृत्ति को गोचरीवृत्ति कहते हैं।

अक्षभक्षण, अग्निप्रशमन, भ्रामर व गर्तपूरणवृत्तिवाली अपहृतसंयम संयोजिका भिक्षाशुद्धि—(२) जैसे कोई गाड़ी रत्नों के भार से भरी हुई है, कहीं ले जाना है तो किसी भी तैल से उसके पहियों के बीच लेप करके अपने इष्ट देश को वह व्यापारी ले जाता है उसी प्रकार मुनि भी गुणरूपी रत्नों से भरी हुई इस शरीर गाड़ी को निर्दोष आहाररूपी अक्षभृक्षण द्वारा अपने इष्ट समाधि के नगर को पहुँचा देता है, इस कारण इस वृत्ति का नाम अक्षभृक्षण सही है। (३) जैसे भण्डार में अग्नि लग जाय तो उस अग्नि को बुझाने के लिए उस पर जल डाला जाता है। उस समय जल कुवें का मिले, तालाब का मिले, नल का मिले, अशुचि मिले, शुचि मिले, किसी भी जल से उस अग्नि को बुझा दिया जाता है, इसी प्रकार मुनि भी जब पेट में अग्नि लगी है, क्षुधा भी एक अग्नि की तरह है। वैद्य लोग उसका नाम जठराग्नि कहते ही हैं, तो उस जठराग्नि को यतीजन शान्त करते हैं, उस समय चाहे नीरस आहार हो चाहे सरस, उससे प्रसमन कर देते हैं। हाँ अशुद्ध आहार को वे ग्रहण नहीं करते। (४) जैसे-भवरा फूल के रस को ग्रहण करता है, अल्प थोड़ा सा ग्रहण करता है, फूल को बाधा नहीं देता, आहार ग्रहण करता है, ऐसे ही मुनि दाता पुरुष को बाधा दिये बिना स्वल्प आहार करता है, इस वृत्ति को भ्रामरी

वृत्ति कहते हैं। (५) जैसे कहीं कोई गड्ढा हो और उस गड्ढे को भरना है तो किसी भी प्रकार से उस गड्ढे को भर दिया जाता, ईंट पत्थर डालकर, मिट्टी कंकड़ डालकर, कूड़ा करकट डालकर, कुछ भी चीज डालकर उसे भर दिया जाता है इसी प्रकार मुनि अपने पेट को गड्ढे को चाहे स्वादिष्ट भोजन हो या नीरस भोजन हो, किसी भी प्रकार के भोजन से अपने पेट को भर लेते हैं। इसे कहते हैं गर्तपूरण वृत्ति। इस प्रकार आगम में बतायी गई विधि से भिक्षाशुद्धि की जाती है। भिक्षाशुद्धि का प्रयत्न रखने वाले मुनि अव्रत संयमका पालन करते हैं।

अपहृत संयमसाधिका प्रतिष्ठापनाशुद्धि एवं शयनासनशुद्धि—प्रतिष्ठापनाशुद्धि—संयमी पुरुष के शरीर तो लगा ही है। जब शरीर है तो शरीर के मल भी शरीर से निकलते ही हैं। जैसे नाखून, रोम, थूक, खकार, मूत्र, मल आदिक निकलते हैं तो उनको कहा निकाला जाय, कहाँ फेंका जाय; इसके विषय में मुनिजन बड़े सावधान रहते हैं। किसी जंतु की विराधना न हो जाय सो प्राणि पीड़ा का परिहार करते हुए उन मल मूत्रों को उत्सर्ग करने में प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे ये मुनि समस्त देश काल के जाननहार हैं। किस क्षेत्र पर, किस काल में कहाँ कैसे जीव जंतु हो जाया करते हैं इन सबका एक परिचय है। तो ऐसे देश काल का जाननहार मुनि मल के क्षेपण में तथा अपने अंग के धरने उठाने में निर्जन्तु जमीन देखकर ही प्रयोग करते हैं। ऐसी प्रतिष्ठापनाशुद्धि रखने वाले मुनि अपहृत संयम का पालन करते हैं। शयनासनशुद्धि—सोने और बैठने की शुद्धि में सावधान संयमीमुनि इन स्थानों में नहीं निवास करते हैं। जहाँ स्त्रीजन हों, तुच्छ लोग हों, चोर हों, शराबी हों, जुवां खेलने वाले हों, पक्षियों के पकड़ने वाले शिकारीजन रहते हों, ऐसे स्थानों में संयमी मुनि नहीं बसते और ऐसे भी स्थानों का त्याग करते हैं जहाँ श्रृङ्गार विकार, आभूषण या वेश्यावों की क्रीड़ा, मनोहर संगीत नृत्य बाजे आदिक से व्याकुल स्थान हो, ऐसे किसी शाला आदिक में मुनिजन नहीं रहा करते हैं। मुनिजन तो जो प्राकृतिक स्थान हैं जैसे पर्वत की गुफा, वृक्ष की खोह, सूना मकान, छोड़ा हुआ मकान, ऐसे स्थानों में ही निवास करते हैं। यदि मुनि के उद्देश्य से कोई कोठी बना दी जाय तो वहाँ भी वे निवास नहीं करते। ऐसे शयन और आसन की शुद्धि में प्रयत्नशील मुनि अपहृत संयम का पालन करते हैं।

अपहृत संयम साधिका वाक्यशुद्धि—वाक्यशुद्धि-संयमीजन ऐसा वचन व्यवहार जिन वचनों द्वारा किसी को पृथ्वीकाय आदिक किसी भी कायकी हिंसा आरम्भ आदिक की प्रेरणा न मिले, तथा जो वचन कठोर न हों, दूसरों को पीड़ा करने वाले न हों, अथवा दूसरों को कोई पीड़ा पहुँचे ऐसे प्रयोग की प्रेरणा न हो, उन वचनों को बोलना वाक्यशुद्धि कहलाती है। संयमीजन ऐसे ही वचन बोलते हैं जिनसे व्रत, शील आदिक का उपदेश मिलता हो और योग्य हित, परिमित, मधुर वचन हों। ऐसे वचनों को बोलना वाक्यशुद्धि कहलाती है। ऐसी वाक्यशुद्धि रखने वाले मुनि अपहृत संयम का पालन करते हैं। यह वाक्यशुद्धि सभी सम्पदाओं का आश्रय है जिनके वचन सही हैं वे सभी प्राणियों के द्वारा आदरणीय हैं और वहाँ सभी सम्पदावों का निवास है इस प्रकार ८ प्रकार की शुद्धियों से प्रवृत्ति रखने वाले मुनि अपहृत संयम का पालन करते हैं। इस तरह उत्तम संयम में उपेक्षा संयम और अपहृत संयम दोनों संयमों का पालन किया जाता है।

संवर हेतुभूत उत्तम तप का दिग्दर्शन—उत्तमतप—कर्म का क्षय करने के लिए जो तपा जाय वह उत्तम तप कहलाता है तप में इच्छानिरोध की मुख्यता है। किसी भी प्रसंग की इच्छा न होना वहाँ ही तप बनता है, यदि कोई क्लेश तो बहुत सहे, गर्मी में पर्वतों पर तप करे, सर्दी में नदी के किनारे तप

करे, वर्षा ऋतु में पानी वरसते में वृक्ष के नीचे खड़ा होकर तप करे, और और भी अनेकतप हैं. इन तपों का आगे अलग से प्रकरण पाकर वर्णन होगा। कैसा ही क्लेश किया जाय, पर यदि इच्छानिरोध नहीं है और इच्छानिरोध का उद्देश्य भी नहीं है तो वह उत्तम तप नहीं कहलाता है। उत्तम तप धर्मका अंग है, और उस अंग से विशेषकर निर्जरा होती है। तप के मध्य मुनिका उपयोग ऐसे स्वभाव की ओर अभिमुख होता है कि उसको बाहरी काय क्लेश कुछ भी विदित नहीं होते। वे तो उन तपस्यावों के बीच अन्तः चैतन्यस्वरूप का ध्यान रखकर प्रसन्न रहते हैं। कर्मों के क्षय क्लेश से नहीं हुआ करते, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता से हुआ करते हैं। आनन्द बड़े-बड़े कर्म ईंधनों को जला देता है। आनन्द तो आत्मा का स्वरूप है। जहां पर विकल्प समाप्त हुए और आत्मस्वभाव के उपयोग में आये वहाँ उत्कृष्ट आनन्द प्रकट होता है। संसार के आनन्द आनन्द नहीं हैं, वे तो सुख कहलाते हैं। जहाँ इन्द्रियको सुहावना लगे वह सुख है, सुख से कर्मों का क्षय नहीं होता। कर्मों का क्षय आनन्द द्वारा ही होता है। तो ऐसे कर्मों के क्षय के लिए जो तप तपा जाय उसे तप कहते हैं।

संवरहेतुभूत उत्तम त्याग धर्मांग का दिग्दर्शन—उत्तम त्याग–सचेतन या अचेतन सर्वप्रकार के परिग्रहों की निवृत्ति को त्याग कहते हैं। यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि तप के १२ भेद कहे जायेंगे, उनमें छः आभ्यंतर तप हैं, छः बाह्य तप हैं। तो आभ्यंतर तपों में एक उत्सर्ग नामका तप है। उस उत्सर्ग नामक तप में ही इस त्याग का ग्रहण हो जायगा फिर उत्तम त्याग को अलग से कहने की क्या जरुरत ? समाधान–उत्सर्ग में और त्याग में यह अन्तर है कि उत्सर्ग तो नियतकाल के लिए होता है। किसी समय तप करने के लिए बैठे उस समय सर्वका उत्सर्ग कर दिया, पर यह त्याग तो अनियत काल के लिए, सदा के लिए है। इस प्रकार उत्सर्ग तप में और इस उत्तम त्याग में अन्तर है। पुनः शंकाकार कहता है कि अभी उत्तम शौच नामका धर्म कहा गया था। उसमें और उत्तम त्याग में क्या अंतर है ? सर्व प्रकार के लोभ का त्याग बताया गया था, सो उत्तम त्याग में भी वही बात है, फिर उत्तम त्याग का ग्रहण करना अनर्थक है ? समाधान–उत्तम शौच और उत्तम त्याग में ऐसा अन्तर है कि शौच धर्म में परिग्रह के न रहने पर भी कर्मोदय से हुई तृष्णानिवृत्ति की जाती है, अर्थात् परिग्रह नहीं है समक्ष तो भी तृष्णा तो हो सकती है। उस कषाय की निवृत्ति उत्तम शौच धर्म में की गई है, किन्तु त्याग में जो विद्यमान परिग्रह है उसका त्याग बताया गया है, अथवा त्याग का अर्थ है अपने योग्य दान देना। जैसे संयमी साधु के योग्य ज्ञानादिक देना यह उनका उत्तम त्याग है।

संवरहेतुभूत उत्तम आकिञ्चन्य धर्मांग—उत्तम आकिञ्चन्य–अतिनिकट प्राप्त शरीर आदिक में संस्कारका निराकरण करने के लिए यह मेरा है आदिक ऐसे अभिप्राय की निवृत्ति हो जाना आकिञ्चन्य धर्म कहलाता है। जिसके कुछ भी न हो उसे अकिञ्चन कहते हैं। न किञ्चन यस्य अस्ति इति अकिञ्चनः, अकिञ्चनस्य भावः आकिञ्चन्यं। अकिञ्चन के परिणाम अथवा चेष्टा का नाम आकिञ्चन्य है। आकिञ्चन्य में एक अपने सहज स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी को भी स्वीकार उसमें किया गया। वाह्यय में जितने पदार्थ हैं वे सब प्रकट निराले हैं। वे इस आत्मा के कुछ भी नहीं हैं। इसी प्रकार वाह्य में जितने सचेतन परिग्रह हैं, जीव हैं वे भी निराले हैं, वे भी इस आत्मा के कुछ नहीं हैं। अतीव निकट प्राप्त यह शरीर यह भी पौद्गलिक है, अचेतन है, मुझ आत्मा से जुदा है, वह भी मेरा कुछ नहीं है। जो कर्म बन्धन होता है और निमित्त नैमित्तिक भावों से मेरे आत्मा के एक क्षेत्र में रहता है वह भी पौद्गलिक है। यह भी मेरा कुछ नहीं है। उन कर्मों का उदय होने पर अर्थात् कर्मों में ही

अनुभाग फूटने पर उनका प्रतिफलन उपयोग में होता है वह छाया, माया, प्रतिफलन भी मुझ आत्मा का नहीं है, ऐसा समस्त पर और परभावों के प्रति यह मेरा कुछ नहीं है, मेरा जगत में पर पदार्थ अणुमात्र भी कुछ नहीं है, इस प्रकार का भाव होना उत्तम आकिञ्चन्य कहलाता है।

संवरहेतुभूत उत्तम ब्रह्मचर्य धर्मांग—उत्तम ब्रह्मचर्य–ब्रह्मचर्य का शब्दार्थ यह है कि ब्रह्म मायने आत्मा, उसमें चर्य मायने रमण करना ब्रह्मचर्य है। पर व्यवहार में ऐसे ब्रह्मचर्य की सिद्धि करने वाला कैसा प्रयोग करता है उस सब प्रयोग का नाम भी ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालनहार पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करता, मैंने ऐसी कलावान गुणवान, निपुण-स्त्री के साथ रमण किया। इस प्रकार का स्मरण कभी स्वप्न में भी नहीं आता। यह स्त्री की कथा के श्रवण में उत्सुक नहीं है। पहले भोगे हुए रति कालीन सुगंधित द्रव्यों के सुवास स्त्री संसर्ग वाले शयनासन, साधन आदिक का परित्याग करता है। ऐसे विषय के अल्प या बहुत साधनभूत वाह्य पदार्थों का त्याग करने पर ही परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालनहार अपने गुरू के आधीन वृत्ति रखता है। ब्रह्म मायने गुरू, उसके आधीन रहना, उसके नियंत्रण में चलना सो ब्रह्मचर्य है। याने गुरू की आज्ञा पूर्वक चलने का भी नाम ब्रह्मचर्य है; क्योंकि ऐसी वृति रखने वाले के ब्रह्मचर्य की सिद्धि होती है।

गुप्त्यादि परिपालनार्थ उत्तमक्षमादि धर्मांगों के कथन कथन की सार्थकता—इन धर्मों के वर्णन में अनेक स्थलों पर ऐसी शंकायें हुई थीं कि इनका इस गुप्ति में अन्तर्भाव हो सकता है। उनका समाधान यथास्थान दिया गया था, फिर भी यहाँ यह समझना कि यद्यपि किसी प्रकार उनके किन्हीं धर्मों का गुप्ति, समिति आदिक में अन्तर्भाव हो सकता है तो भी इन धर्मों में कर्मों का सम्वरण करने की सामर्थ्य है तो सम्वरण करने की सामर्थ्य होने से इसका धर्म यह नाम अन्वयार्थक है और ऐसा अन्वयार्थक बताने के लिए इसके पुनः वचन कहे गए हैं इस कारण पुनरूक्त न जानना। अथवा इन धर्मों का पालन उन्हीं गुप्ति आदिक को प्रतिष्ठित करने के लिए बताया गया है। जैसे जो ७ प्रकार के प्रतिक्रमण किए जाते हैं वे किसलिए किए जाते हैं कि गुप्ति आदिक जो सम्वर के हेतुभूत हैं वे पुनः सही हो जायें, उनकी प्रतिष्ठा के लिए ७ प्रकार के प्रतिक्रमण किए गए हैं–जैसे ईर्यापथ प्रतिक्रमण। विहार करने में कोई दोष लगे हो तो उनकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण होता है, रात्रिदिन प्रतिक्रमण रात में या दिन में कोई भी दोष लगे हों उनकी शुद्धि के लिए ये प्रतिक्रमण हैं। पाक्षिक प्रतिक्रमण—१५ दिन में जो कोई दोष लगे हों उनकी शुद्धि के लिए यह प्रतिक्रमण है। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—चार महीने में जो दोष हुए हैं उनका प्रतिक्रमण। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण याने पूरे वर्ष में जो दोष लगे हों उनके प्रति प्रतिक्रमण होता है, और उत्तम प्रतिक्रमण–सारे जीवन भर के दोष लगे हों उनका मरणकाल के निकट प्रतिक्रमण करना यह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। ऐसे ७ प्रतिक्रमण गुप्ति आदिक की प्रतिष्ठा के लिए किए गए हैं। इस प्रकार उत्तम क्षमा आदिक १० धर्मों की भावना गुप्ति आदिक के परिपालन के लिए की गई है। इस कारण किन्हीं धर्मों का उन गुप्ति आदिक में अन्तर्भाव भी होता हो तो भी उनका अलग से उपदेश करना युक्त है।

क्षमादि दस धर्माङ्गों के पूर्व उत्तम शब्द के सम्बन्ध का प्रताप—इन दस धर्मों में उत्तम शब्द जो लिखा गया है उससे यह जानना कि क्षमा आदिक भाव किसी दृष्टि प्रयोजन के उद्देश्य से नहीं किया जाता है, केवल आत्म स्वभाव की शुद्धि के लिए किया जाता है, और तभी ये सम्वर के कारण हैं। तो लौकिक प्रयोजन के लिए क्षमा, नम्रता, आदिक किए जायें तो वे सम्वर के कारण नहीं होते, ऐसी विशेषता बताने के लिए उत्तम विशेषण दिया गया

है। सो ऐसे उत्तम क्षमा आदिक सम्यक्त्व होने पर ही सम्भव हैं। अज्ञानी जनों के क्षमा आदिक उत्तम क्षमा नहीं कहलाते। ये दस धर्म सम्वर के कारण किस प्रकार होते, इनमें अपने आत्मा के गुणों की प्राप्ति तथा प्रतिपक्षी दोषों की निवृत्ति की भावना की गई है इस कारण ये सम्वर के कारण हैं।

उत्तम क्षमा के गुण व प्रतिपक्षी के दोष आदिका चिन्तन—जैसे क्षमा के गुण क्या हैं? व्रत और शील की रक्षा होना। कोई क्रोध में व्रत का पालन नहीं कर सकता इस कारण क्षमा के ये गुण कहलाते हैं कि व्रत और शील अच्छी तरह से पलें। इह लोक और परलोक में दु:ख न होना ये क्षमा के गुण हैं। जो क्षमाशील पुरुष है उसको इस भव में भी दु:ख नहीं होता, परभव में भी दु:ख नहीं होता। लोक में सम्मान सत्कार होना क्षमा के गुण हैं। क्षमाशील पुरुष का इस लोक में सम्मान होता है, सत्कार होता है। क्रोध करने वाले का सत्कार नहीं होता, तो ऐसे गुण जानकर गुणों की प्राप्ति होती है और उसके दोष जानकर दोषों को दूर किया जाता है। क्षमा के विपरीत है क्रोध। उस क्रोध में क्या दोष होते हैं कि क्रोध के कारण धर्मपुण्य का भी नाश होता है। क्रोध के कारण द्रव्य का उपार्जन भी नहीं हो पाता। कोई भी व्यापारी क्रोध करके द्रव्य का उपार्जन नहीं कर सकता, तब फिर जहाँ क्रोध है वहाँ मोक्ष और मोक्ष के उपायों का सवाल ही नहीं है। तो ऐसे गुण और दोष विचार कर क्षमा धारण करना चाहिए। और भी विचार क्षमा के पालन में सहयोगी हैं। वहाँ यह चिन्तन चले कि दूसरा यदि अपने ऊपर क्रोध करता है, गाली देता है तो जिस बात को वह कहता है वह दोष मुझमें यदि विद्य-मान है तो वह सच ही तो कह रहा है। झूठ नहीं कह रहा, फिर मुझे क्रोध न करना चाहिए और यदि वह दोष मुझ में न हो तो यह सोचना चाहिए कि यह बेचारा अज्ञान से कहता है, इस कारण इसे क्षमा ही करना चाहिये। यदि कोई परोक्ष में गाली देता है तो उसको यों समझना चाहिये कि यह परोक्ष में ही तो गाली दे रहा है, प्रत्यक्ष तो कुछ नहीं कर रहा। अपना बालक तो प्रत्यक्ष भी गाली दे दिया करता है। तो उसे बालस्वभाव जानकर क्षमा ही करना चाहिये। यदि कोई सामने ही गाली दे तो ऐसा मनन करना चाहिए कि इसने गाली ही तो दी है मुझे मारा तो नहीं है, पर बालक जन तो मुझे मार भी देते है। यह भी एक बालस्वभाव है। यदि कोई मार दे तो सोचना चाहिये कि इसने मारा ही तो है। प्राण तो नहीं लिया है, मगर बालक जन तो प्राण भी ले लिया करते हैं। जैसे किसी के बालक उद्दण्ड होते हैं वे अपने बाप के प्रति मारना तो दूर रहा, प्राण भी ले डालते हैं, तो उसे अपने बालक जैसा ही स्वभाव समझ लीजिए। प्राण भी ले ले कोई तो उसे भी क्षमा ही करना चाहिये। वहाँ सोचना चाहिये कि यह प्राण ही तो ले रहा है, मेरे धर्म को तो नहीं छीन रहा। ऐसे बालक स्वभाव के चिन्तन द्वारा अपने चित्त में क्षमा भाव ही पुष्ट करना चाहिये। और, आखिरी बात यह है कि वहाँ यह चिन्तत होना सही है कि हमने जो पूर्व जन्म में खोटे कार्य किया था, पाप कर्म बाँधा था, उसके उदय में गाली सुननी पड़ रही है। यह पुरुष तो केवल निमित्त मात्र है। निमित्त भी क्या, एक बाह्य कारण मात्र है। निमित्त कारण तो उसके पापकर्म का उदय है। ऐसे चिन्तन द्वारा क्रोधभाव को दूर करना, क्षमा भाव का विकास करना यह सम्वर का कारण है।

उत्तम मार्दव गुण की भावना व प्रतिपक्षी अभियान के दोष की निवृत्ति की भावना—यहाँ यह बतलाया जा रहा कि क्षमा आदिक दस धर्मों में अपने आत्मा के गुणों की तो प्राप्ति और प्रतिपक्षी दोषों की निवृत्ति की भावना बनी है इस कारण ये सम्वर के कारण कहलाते हैं। उत्तम मार्दव धर्म में आत्मा की उस निरभिमानता पर दृष्टि जाती है और अभिमान दोष रूप है इसलिए उसकी निवृत्ति की

भावना बनती है, इस कारण उत्तम मार्दव सम्वर का हेतुभूत है। जो पुरुष निरभिमानी होता है, मार्दव गुण से युक्त होता है उस पुरुष पर गुरुवों का अनुग्रह होता है, यह एक प्राकृतिक बात है। विनयशील निरभिमानी पुरुषों पर निर्बलों पर गुरूवों की कृपा होती है और साधुजन भी उसे ही साधु मानते हैं जो अभिमान रहित है, कोमल परिणाम वाला है। बड़ों के प्रति विनयशील है, छोटों के प्रति नम्र व्यवहार रखता है। गुरूवों का अनुग्रह प्राप्त हो तो सम्यग्दर्शन आदिक की प्राप्ति होती है। यह एक बड़ी विशुद्ध कला है कि शिष्यजन अपने गुरूवों के प्रति बहुत विनयशील और हृदय से आज्ञाकारी रहे तो इसके फल में उनका ज्ञान निर्दोष चारित्र आदिक के प्रति होता है। गुरूवों का अनुग्रह जिन पर है वे शिष्य नियम से गुणवान हैं। गुणरहित दोषवान शिष्यों पर गुरूवों का अनुग्रह नहीं बनता। यद्यपि गुरूजन समता के धारी हैं, वे माध्यस्थ भाव कर लेंगे, पर अनुग्रह उन्हीं के होता है जो योग्य होते हैं। तो निरभिमानता के कारण उसे स्वर्गादिक सुख मिलते हैं, मलिन मन में व्रत अथवा शील नहीं ठहरता। जिसका हृदय कठोर है, दूसरे जीवों के स्वभाव का आदर नहीं कर सकते हैं, विनयरहित हैं उनका यह परिणमन सर्व आपत्तियों की जड़ है। अभिमानी पुरुष इस लोक में भी दुःखी रहते हैं और परलोक में भी दुःखी रहते हैं। तो मार्दव धर्म में बड़े गुण हैं, मोक्ष मार्ग में प्रगति कराता है। आत्मस्वभाव की दृष्टि का सहायक है और साक्षात् शान्ति का प्रदान करने वाला है। ऐसे मार्दव धर्म के गुण की भावना में और आत्मस्वभाव के स्पर्श में सम्वर चलता है, इस कारण मार्दव धर्म सम्वर का हेतुभूत है।

उत्तम आर्जव के गुण की व प्रतिपक्षी मायाचार दोष की निवृत्ति की भावना—उत्तम आर्जव में हृदय की सरलता होती है। सरल हृदय गुणों का आवास है। जो मायाचारी से भरा हृदय है वहाँ गुण नहीं ठहरते। कपट करने वाले पुरुषों की निन्द्य गति होती है। छल कपट करने वाला पुरुष धर्मधारण का पात्र नहीं है। जैसे किसी टेढ़े छेद वाले दाने में सूत का प्रवेश नहीं होता इसी प्रकार मन, वचन, काय के वक्र पुरुषों में धर्मरूपी सूतका प्रवेश नहीं होता। जिसके अज्ञान छाया है वह ही इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थों के लाभ के लिए मायाचार किया करता है। जिसे स्वपर भेद विज्ञान होने से संसार की किसी भी वस्तु से प्रयोजन न रहा, इन्द्रिय के विषय में रंच भी प्रीति न रही, वह पुरुष छल कपट क्यों करेगा ? कपट किया जाता है किसी विषय की प्राप्ति के लिए। चाहे वह पौद्गलिक विषय हो, जिससे कि इन्द्रिय का विषय सधता है उन विषयों के लाभ के लिए ही लोग छल कपट किया करते हैं। जैसे मनका विषय है नामवरी यश कीर्ति फैलाना, तो अनेक लोग पर्यायबुद्धि के कारण अपनी यश कीर्ति फैलाने के लिए अनेक प्रकार के मायाजाल रचते हैं। अपने को बहुत महान दुनिया की निगाह में रखना चाहते हैं।

उत्तम शौच धर्मांग के गुण की भावना व प्रतिपक्षी लोभ के दोष की निवृत्ति की भावना—जिसको स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द का लोभ है, इन विषयों का आसक्त है, वही इनकी प्राप्ति के लिए छल कपट किया करता है, पर सम्यग्दृष्टि पुरुष को किसी भी विषय में हितबुद्धि नहीं है, केवल स्वभाव दृष्टि ही हितकारिणी है, ऐसा निर्णय है, उनके छल कपट की प्रवृत्ति नहीं होती। तो निष्छल सरल उपयोग होने से कार्य का सम्वर होता है। इस कारण इसे सम्वर के कारणों में गिना गया है। उत्तम शौच ऐसा उत्कृष्ट गुण है कि जहाँ आत्मा के स्वभाव का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है, और जिसके उत्तम शौच धर्म नहीं हैं, लोभ कषाय बसी हुई है ऐसे लोभी के हृदय में विकास होना तो दूर ही है पर उसमें थोड़े भी गुण नहीं ठहर पाते। लोभी पुरुष इस लोक में भी अनेक आपत्तियों को प्राप्त होते हैं

और परलोक में भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं। लोभी पुरुष का इस लोक में कोई सम्मान नहीं होता। चाहे वह कितना ही धनिक हो यदि वह लोभी है तो प्रत्यक्ष में भी और परोक्ष में भी लोग उसकी निन्दा करते हैं। उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं और लोभी पुरुष के चित्त में कैसा महान अज्ञान छाया है कि उसको अपने निर्लेप चैतन्यस्वभाव मात्र परमात्म द्रव्य की सुध नहीं है और बाह्य विषयों की तृष्णा के कारण यह निरन्तर व्याकुल रहता है। संसार में जितने जीव रुल रहे हैं वे मूल तो मिथ्यात्व के कारण रुल रहे हैं, पर रुलने में सहायक लोभ कषाय है। जिसके प्रबल लोभ कषाय है उसके मिथ्यात्व पुष्ट होता है और संसार में परिभ्रमण करते रहना पड़ता है। लोभ कषाय इतनी तीव्र है कि सर्व कषायें छूट जायें, पर लोभ कषाय बहुत देर में छूटती है। और आगम में तो बताया है कि क्रोध, मान, माया, इन तीन कषायों का क्षय ६ वें गुणस्थान में हो जाता है, पर लोभ कषाय का क्षय ६ वें गुणस्थान में नहीं हो पाता। वह १० वें गुणस्थान के अन्त में होता है। तो यों लोभ कषाय बहुत प्रबल कषाय है, उसके त्याग की भावना और लोभरहित अविकार स्वभाव चैतन्यस्वरूप की भावना इस उत्तम शौच धर्म में होती है, इस कारण इसे सम्वर का कारण बताया गया है।

उत्तम सत्य धर्माङ्ग के गुण की भावना व प्रतिपक्षी असत्य दोष की निवृत्ति की भावना— उत्तम सत्य—जिसका हृदय कषायों से रहित होता है वही उत्तम सत्य बोल सकता है। झूठ बोलने का कारण कषाय भाव हुआ करता है, इसी कारण क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच धर्म के बाद सत्य धर्म का व्याख्यान किया जाता है। जितने भी गुणसमुदाय हैं वे सभी सत्य वक्ता में प्रतिष्ठित होते हैं। सच बोलने वाले का सर्व प्रथम लोग आदर करते हैं। झूठ वचन बोलने वाले का बंधुजन भी तिरस्कार करते हैं, घर के लोग भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उस पर विश्वास नहीं होता है अतएव उसके वचन निरर्थक माने जाते हैं। झूठ बोलने वाले का जगत में कोई मित्र नहीं बन पाता। जिसको भी यह विदित होता कि इसको झूठ बोलने की आदत है तो उसके साथ कोई भी प्रीति नहीं करना चाहता। लोक में भी झूठ बोलने वाले को अनेक दण्ड भोगने पड़ते हैं, उसकी जीभ छेद दी जाती है। उसका सर्वस्व धन हरण कर लिया जाता है, ये सब दण्ड उसे भोगने पड़ते हैं। एक कथानक में सत्य घोष की कथा प्रसिद्ध है। उसने अपने यज्ञोपवीत में चक्कू बाँध रखा था और यह प्रसिद्धि कर रखा था कि जिस दिन मेरी जीभ झूठ बोल देगी उसी दिन चाकू से जीभ को काट डालूंगा। तो लोगों को उस पर बड़ा विश्वास हो गया। एक बणिक ने परदेश जाते समय उस सत्यघोष के पास अपने ४–५ कीमती रत्न रख दिए। और कह दिया कि परदेश से वापिस आने पर मैं ले लूंगा। वह सेठ चला गया परदेश। इधर उन कीमती रत्नों को पाकर सत्यघोष का मन डिग गया, उन्हें अपनाना चाहा। सेठ ने वापिस आने पर रत्न माँगा तो वहाँ सत्यघोष झूठ बोल गया और कहने लगा कि मैं तो नहीं जानता कि आप कौन हैं, कहाँ से आये हैं और कब आपने मेरे पास रत्न रखे ? सत्यघोष का ऐसा उत्तर सुनकर उस बणिक के चित्त में भारी ठेस लगी। आखिर इस ठेस के कारण उसका चित्त स्थिर न रह सका। वह पागलों की नाई यत्र तत्र फिरने लगा और यही बकता फिरे सब जगह कि सत्यघोष ने मेरे रत्न चुरा लिए। लोगों को उसकी बात पर विश्वास न हुआ। पर रोज रोज वही बात सुनकर एक बार वहाँ की रानी के मन में आया कि आखिर किसी तरह से परीक्षा तो करना चाहिए इस बात की कि यह बणिक ठीक कहता है या झूठ। तो रानी ने सत्यघोष को जुवा खेलने के बहाने अपने घर बुलवाया, जुवा में सत्यघोष सब कुछ हार गया। यहाँ तक कि जनेऊ, चाकू तथा अपने हाथ की अंगूठी तक हार गया। इतना होने के बाद रानी

ने अपनी दासी को सत्यघोष का जनेऊ, चाकू और उसकी मुदरी देकर कहा–सत्यघोष के घर जावो और सत्यघोष की स्त्री को ये सब निशानी दिखाकर बता देना कि उन्होंने घर में रखे हुए सभी रत्न माँगा है, बस इस तरह से बोलकर उससे सभी रत्न ले आना। दासी ने वैसा ही किया। सत्यघोष के घर पहुँचकर उसकी सब निशानी दिखाकर उसकी स्त्री से सब रत्न ले आयी। वहां उस बणिक को बुलाया और अपने रत्न छाँटकर उठाने को कहा तो उस वणिक ने अपने पाँचों रत्न उनमें से छाँट लिए। सत्यघोष पर चोरी का अपराध सिद्ध हो गया। इसके फल में सत्यघोष को क्या दण्ड दिया गया कि या तो मेरे मल्लके ३२ मुक्के सहो, या एक थाली गोबर खावो या अपना सर्वस्व सौंप दो। सत्यघोष ने सर्व प्रथम, ३२ मुक्के मल्ल के सह लेने को कहा, पर मल्ल के एक ही मुक्के में सत्यघोष घबड़ा गया, घबड़ा कर एक थाल गोबर खाने को कहा, उसमें भी वह थोड़ा सा ही खा सका फिर अपना सर्वस्व, अर्पण कर देने को कहा। आखिर सत्यघोष के सर्वस्व का हरण हो गया। तो झूठ बोलने वाले को बड़ा कठिन दण्ड भोगना पड़ता है और इस उत्तम सत्य का पालन करने पर आत्मस्वभाव का विकास होता है, उससे कर्म का सम्वर होता है।

उत्तम संयम व उत्तम तप धर्मांग के गुण की भावना—उत्तम संयम—आत्मा का हितकारी धर्म है। संयमी पुरुष की यहाँ भी पूजा होती है और परलोक में भी कोई विलक्षण पद प्राप्त होता है। संयमी पुरुष यहाँ भी सुखी और शान्त रहता है। वास्तविक संयम तो स्वभाव दृष्टि करके अपने आपको उस ज्ञान में मग्न कर देना है। जो पुरुष ऐसा उत्तम संयम पालते हैं उनको आकुलता का क्या काम? तो संयम में आत्मस्वभाव का विकास है और कर्म का वहां सम्वर है। जहां संयम नहीं है ऐसे असंयमी पुरुष निरन्तर हिंसा आदिक पाप कार्यों में लिप्त रहा करते हैं जिससे उनको पापकर्म का संयम होता है। तो असंयम से संसार में दुर्गतियाँ भोगनी होती हैं और संयम भाव के कारण आत्मा में शान्ति होती है और कर्म का सम्वर होता है, इस कारण उत्तम संयम सम्वर का हेतु बताया गया है। उत्तम तप—जहाँ किसी भी प्रकार की वान्छा नहीं रहती और अपने चैतन्यस्वरूप में उपयोग स्वच्छ रहता है वह उत्तम तप कहलाता है। उत्तम तप से स्पष्ट अर्थ की सिद्धि होती है। जहाँ कोई पदार्थ की वान्छा नहीं है वहाँ सबकी ही सिद्धि समझना चाहिये। और वहाँ ऐसा पुण्य रस बढ़ता है कि सभी इष्ट पदार्थं उसे प्राप्त हो जाते हैं जो सुख के हेतुभूत होते हैं। उत्तम तपश्चरण से ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है। जो-जो आज तीर्थस्थान बने हुए हैं वे तपश्चरण के चरणरज से पवित्र होने के कारण ही तो तीर्थ कहलाते हैं। जिसके तपश्चरण नहीं वह पुरुष तृण से भी लघु होता है। लोक में तृण का कोई आदर नहीं है। कहीं कपड़े पर तृण का तिनका लग जाय तो लोग उसे न कुछ जैसा समझकर फेंक देते हैं। जैसे इस जगत में तिनके का कुछ सम्मान नहीं है ऐसे ही तपरहित पुरुष का जगत में कुछ भी सम्मान नहीं है। कोई सदाचारी होता है। अपने आत्मा को आचरण में नियंत्रित करे यह भी तप का अंश है। जो दुराचारी पुरुष है; विषयों में आसक्त हैं उन पुरुषों का लोक में कोई सम्मान नहीं होता। जहाँ इच्छानिरोध नहीं है, किसी भी प्रकार का तपश्चरण नहीं है, रंच भी सदाचार नहीं है ऐसे पुरुष में गुण नहीं बसा करते हैं। सारे गुण उसे छोड़ देते हैं और वह संसार से मुक्त नहीं हो सकता। यह देह पाया है, जो देह विनश्वर है उसको व्यसनों में लगाना और अपने आत्मा का श्रद्धान करना यह बड़ा दोष है। इससे संसार में भ्रमण करते रहना पड़ता है और सदाचार हो, इच्छानिरोध हो, आत्मा के चैतन्य स्वभाव की दृष्टि हो तो उससे सम्वर मात्र होता है। सो यह उत्तम तप सम्वर के हेतुवों में ठीक ही गिना गया है।

उत्तमत्यागधर्माङ्गके गुण की भावना—उत्तम त्याग जो अपने पास परिग्रह हो उसको त्याग स्व और परके हित के लिए होता है। परिग्रह के संचय से न खुद को शान्ति होती है, न दूसरों को लाभ होता है, कोई लोभी पुरुष परिग्रह का संचय ही संचय करे और भोगोपभोग के लिए भी खर्च न करे तो उसने भी उस अर्थ से लाभ क्या पाया ? न धर्म में खर्च कर सकता, न अपने जीवन के लिए खर्च कर सकता और फिर परोपकार के लिए जिसके परिग्रह का उपयोग नहीं होता वह लोक में अपमान की दृष्टि से निरखा जाता है। जैसे-जैसे पुरुष परिग्रह से रहित होता जाता वैसे ही वैसे उसके खेद के कारण हटते जाते हैं। जहाँ खेद नहीं रहता उस मन में उपयोग की एकाग्रता रहती है, अपने सहज परमात्मतत्त्व की दृष्टि बनती है और अविशिष्ट राग के कारण विशिष्ट पुण्य का संचय होता रहता है। परिग्रह की आशा के सम्बन्ध गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है कि यह आशा रूपी गड्ढा प्रत्येक प्राणी में इतना महान् बना हुआ है कि सारा विश्व का वैभव भी मिल जाय तो उसको भी परमाणु की तरह छोटा देखता है और फिर यह आशा का गड्ढा ऐसा विलक्षण गड्ढा है कि इसको वैभव आदिक से जितना भी भरा जाय उतना ही यह गड्ढा खाली होता जाता है। लौकिक गड्ढे तो मिट्टी, कूड़ा, पत्थर आदिक भरने से भर जाया करते हैं, पर आशा का गड्ढा जैसे-जैसे वैभव मिलता है वैसे ही वैसे गहरा होता जाता है। आशा का परिग्रह का त्याग किए बिना आत्मा की प्रगति नहीं होती। आशा के दूर होने पर उपयोग स्वच्छ होता है और वहाँ कर्म का सम्वर होता है।

उत्तम आकिञ्चन्य एवं उत्तम ब्रह्मचर्य धर्माङ्गके गुण की भावना—उत्तम आकिञ्चन्य—मेरा जगत में कुछ भी नहीं है, ऐसी भावना से अपने को समस्त परभावों से शून्य ज्ञानमात्र निरखना उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है। जिसको शरीर में ममत्व नहीं है वह व्यक्ति परम संतुष्ट रहता है। आकिञ्चन्य के विपरीत जिसके रंच भी ममता है वह पुरुष संसार में ही तो घूमता है। उत्तम आकिञ्चन्य भावना में समस्त बाह्य पदार्थों से हट हटकर एक परम विश्राम प्राप्त होता है। और उस परम विश्राम की स्थिति में निज सहज ज्ञानमय भगवान आत्मा इस उपयोग में उपलब्ध होता है और उससे अलग सहज आनन्द की प्राप्ति होती है। सो यह उत्तम आकिञ्चन्य धर्म सम्वर का प्रधान कारण है। इसी कारण सम्वर के हेतुवों में इस उत्तम आकिञ्चन्य धर्म को बताया है। उत्तम ब्रह्मचर्य-पालन करने वाले को हिंसा आदिक कोई दोष नहीं लगते। जिसकी अविकार ब्रह्मस्वरूप पर दृष्टि है उसको हिंसा झूठ आदिक वृत्तियों का कहाँ अवकाश है ? ब्रह्मचर्य अपने गुरुकुल में निवास करने पर सिद्ध होता है। सो जो नित्य गुरुकुल में निवास करते हैं उनके गुण समुदाय अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य के विरुद्ध विकारभाव कोई प्राप्त हों, स्त्रीविलास, विभ्रम आदिक का कोई शिकार बन गया हो, ऐसा प्राणी पाप का विकट बंध करता है। जो ब्रह्मचर्य में कुशल नहीं है, जो अपने शील व्रत को नहीं निभा सकता है वह अन्य इन्द्रियों में भी आसक्त हो जाता है। और जिसकी इन्द्रिय पर विजय नहीं है उस पुरुष का पग पग पर बड़ा अपमान हुआ करता है। कुशील पुरुषों का कहीं भी आदर नहीं है। बल्कि उनकी मार पिटाई होती है और अनेक लोग चाकू मार दे, प्राणघात कर दें, ऐसी अनेक दुर्दशायें करते हैं, पर जिनको अपने अविकार ब्रह्मस्वरूप की सुध है वे पुरुष अपने में संतुष्ट है और सहज आनन्द का अनुभव प्राप्त होता है। और ऐसे उत्तम ब्रह्मचर्य के भाव से कर्मों का सम्वर होता है। इस प्रकार उत्तम क्षमा आदिक गुणों का सद्भाव होने पर और क्रोधादिक दोषों की निवृत्ति होने पर कर्मों के आश्रव का निरोध होता है और सम्वर होता है। इस सूत्र में धर्मः शब्द एक वचन में कहा है और विशेषणों का समास

करके बहुवचन किया गया है। उससे यह सिद्ध है कि क्षमा आदिक दस के दस सब एक संवर भावरूप है और उनका एक सम्वर भाव रूपपना पाया जाता है। इसी लिये धर्म शब्द में एक वचन दिया है और यह पुल्लिग शब्द में प्रयुक्त हुआ है यह अपने लिङ्ग को कभी छोड़ता नहीं है, इसलिए यहाँ यह जानना कि वे सब दस धर्म एक ही आत्म धर्म रूप है और सम्वर के कारण हैं।

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥९–७॥

संवर के हेतुभूत अनुप्रेक्षाओं का निर्देश—सम्वर के कारणों में धर्म के बाद अनुप्रेक्षा बताई गई है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है अनु प्र ईक्षा। आत्मा के स्वभाव में जिस प्रकार उपयोग लगे उसके अनुसार प्रकृष्ट रूप से ईक्षण करना, निरखना, चिंतन मनन करना अनुप्रेक्षा कहलाता है। अनुप्रेक्षा के १२ भेद हैं—(१) अनित्यानुप्रेक्षा (२) अशरणानुप्रेक्षा (३) संसारानुप्रेक्षा (४) एकत्वानुप्रेक्षा (५) अन्यत्वानुप्रेक्षा (६) अशुच्यानुप्रेक्षा (७) आश्रवानुप्रेक्षा (८) सम्वरानुप्रेक्षा (९) निर्जरानुप्रेक्षा (१०) लोकानुप्रेक्षा (११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा और (१२) धर्मानुप्रेक्षा। इन सब अनुप्रेक्षावों में जैसे अपना आत्मा प्रसिद्ध हो उस प्रकार से चिन्तन चलता है। अनुप्रेक्षा का दूसरा नाम भावना भी है, जिसका अर्थ है कि बार-बार इन १२ प्रकारों में गुण दोष का चिन्तन कर गुण की भावना करना।

संवर तत्त्व की कारणभूत अनित्यानुप्रेक्षा का वर्णन—अनित्यानुप्रेक्षा–जो भी पदार्थ प्राप्त है, चाहे वह निकट प्राप्त है चाहे वह दूर प्राप्त है, उन सब पदार्थों के संयोग वियोग का स्वभाव विचारना, उनके स्वयं परिणमनका, अनित्यपनेका विचार करना अनित्यानुप्रेक्षा है। कितने ही पुद्गल द्रव्य तो आत्मा के द्वारा रागादिक परिणाम के कारण कर्म रूप से और नोकर्मरूप से ग्रहण किए गए होते हैं और कितने ही पदार्थ अग्रहीत हैं अर्थात् इस आत्मा का शरीर रूप से या कर्म रूप से नहीं ग्रहण किया गया किन्तु समक्ष मौजूद है। जैसे अनेक ये स्कंध या पशु पक्षी मनुष्यादिक प्राणी इन सबका विचार करना कि ये सब द्रव्य रूप से तो नित्य हैं, किन्तु पर्यायरूप से सतत् नवीन-नवीन पर्याय होने के कारण अनित्य हैं। अपने आपके बारे में भी विचार किया जाना चाहिये कि यह मैं आत्मा अपनी द्रव्य दृष्टि से तो नित्य हूँ और पर्यायदृष्टि से अनित्य हूँ। यद्यपि मेरे पर्याय प्रतिक्षण नये-नये होते रहते हैं, किन्तु यह मैं आत्मा अपने द्रव्य स्वभाव से सदैव रहने वाला नित्य पदार्थ हूँ। इसी प्रकार सभी पदार्थों की बात है कि वह द्रव्य स्वरूप से तो नित्य है और पर्याय स्वरूप से अनित्य है। यह शरीर इन्द्रिय, विषय उपभोग और मिले हुए धन वैभव आदिक सभी पदार्थ जल के बबूले-की तरह अनवस्थित स्वभाव वाले हैं। जैसे घर के ऊपर से गिरने वाले पानी के कारण बरषात में बबूले उठा करते हैं, वे बबूले आधा मिनट भी नहीं ठहर पाते। यदि वे बबूले कुछ एक आधा मिनट ठहरते हैं तो उस पर लोगों का आश्चर्य होता है या बालक लोग उस ठहरे बबूले पर एक हर्ष व्यक्त करते हैं कि देखो यह बबूला हमारा कितनी देर ठहर गया वह अधिक ठहरता ही नहीं है, इसी प्रकार ये सभी पदार्थ इन आकार और अवस्थावों में अधिक ठहरते नहीं है। गर्भादिक अवस्थावों में जो कुछ दशा थी वह दशा आज नहीं है। इस प्रकार पदार्थ विनश्वर हैं, किन्तु अज्ञानी जीव मोहवश होकर इनमें नित्यपना समझते हैं, पर संसार में कुछ भी चीज ध्रुव नहीं है, केवल चैतन्य सामान्य स्वरूप ध्रुव है और उसके लिए अपना ज्ञान दर्शन स्वभाव ही ध्रुव है, अन्य कुछ ध्रुव नहीं है, ऐसा चिन्तवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। यहाँ एक बात और भी अधिक स्मरणीय है कि केवल पदार्थ का अनित्य अनित्य रूप ही विचार किया जाय तो इसमें उद्वेग

होता है। वह कभी तो लाभदायक भी है। इससे उपेक्षा करके अपने ध्रुव स्वभाव की दृष्टि बना लीजिए और कभी अनित्य ही अनित्य विचारने से ऐसा उद्वेग हो सकता है जिसमें घबड़ाहट भी हो जाय और धर्म भाव न जग सके। तो अनित्यानुप्रेक्षा में अपने आपके नित्य स्वरूप में याद होना आवश्यक है। मैं अनित्य नहीं हूँ और यह सारा समागम और पर्याय यह ही विनाशीक है। इस कारण पर्यायों में विश्वास दृष्टि न रखकर अपने ध्रुव अंतस्तत्त्व में आस्था रखना चाहिये।

संवर तत्त्व की कारणभूत अशरणानुप्रेक्षा का वर्णन—अशरणानुप्रेक्षा—जैसे कि कोई भूखे सिंह के पञ्जे के बीच आये हुए हिरण के बच्चे को कोई सहाय नहीं है इसी प्रकार जन्म जरा मरण रोगादिक के बीच होने वाले दुःखों से विघात को बचाने के लिए कोई मुझे शरण नहीं है, ऐसा चिन्तन करना अशरणानुप्रेक्षा है। शरण दो प्रकार के हुआ करते हैं—(१) लौकिक शरण और (२) लोकोत्तरशरण, ये दोनों ही प्रकार के शरण तीन-तीन प्रकार से हुआ करते हैं—(१) जीवशरण (२) अजीवशरण और (३) मिश्रशरण, इस प्रकार ६ प्रकार के शरण हो गए जिनमें पहला है लोकजीवशरण। राजा, देवता, सेठ, बंधुजन ये लोकजीवशरण हैं। तो लोक व्यवहार में आजीविका आदिक के साधनों में इन सबसे सहयोग प्राप्त होता है। यद्यपि यहाँ भी वास्तविक कारण अपने-अपने पुण्य का उदय है तो भी व्यवहार में यह उस समय बाह्य निमित्त होता है इस कारण यह लोक जीव शरण है। कोर्ट महल आदिक अजीव शरण हैं, जिनमें रहकर जीव मनुष्य अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। ग्राम नगर आदि मिश्रशरण क्योंकि ग्राम केवल मकान और स्थान का नाम नहीं किन्तु जिन मकान स्थानों पर मनुष्य रहते हैं वह ग्राम शरण कहलाता है। (४) लोकोत्तरजीवशरण—पंचपरमेष्ठी लोकोत्तरशरण हैं इनमें लौकिकता की कुछ बात ही नहीं है। यह तो केवल आत्मधर्म की साधना में उपयोगी होता है, याने इस कारण यह लोकोत्तर जीव शरण है। (५) लोकोत्तर अजीवशरण—अरहंत प्रभु के प्रतिविम्ब आदि ये अजीव शरण हैं। चैत्यालय, प्रतिमा, जिनके आश्रय धर्मसाधना होती है वे अजीव शरण हैं। (६) लोकोत्तर मिश्रशरण जैसे उपकरण सहित साधुवर्ग शास्त्र आदिक उपकरण साथ हैं, कमण्डल पिछी आदिक भी हैं, ये तो अजीव हैं किन्तु साधु का आत्मा जीव है, सो उपकरण सहित साधुवर्ग लोकोत्तर मिश्रशरण कहलाते हैं। यह सब बाह्य शरण की बात कही गई है, परमार्थ से अपने आत्मस्वभाव का आलम्बन ही शरण है। इतने बाह्य शरण होते हुए भी लौकिक शरण का तो यहाँ प्रकरण नहीं है, पर लोकोत्तर बाह्य शरण होने पर भी यदि परमार्थतः अपने आपके स्वभाव की दृष्टि रूप शरण है तो वह भी व्यवहार से शरण कहा जाता है। कहीं पंच परमेष्ठी अपने में राग बढ़ाकर भक्तों को शरण नहीं दिया करते। वे तो धर्म के स्थान हैं। उनका सत्संग पाकर जो विवेकी जन हैं वे स्वयं अपने परमार्थ धर्म का शरण पा लेते हैं।

अशरणानुप्रेक्षा में अनुप्रेक्ष्य तथ्य—अशरण भावना में यह विचार किया गया है कि इस संसार में परिभ्रमण करते हुए मुझ जीव को इस लोक में कोई शरण नहीं है। जैसे एकान्त बन में बलवान भूखे मांसभक्षी सिंह के द्वारा कोई मृग का बच्चा पकड़ लिया गया, अब उसके लिए कौन शरण हो सकता है? इसी प्रकार जन्म जरा मरण रोग, इष्टवियोग अनिष्ट संयोग, इष्ट का लाभ न होना, मन खोंटा होना, इन घटनावों से जो जीव को दुःख उत्पन्न होता है उस दुःख से आक्रान्त इस जंतु को संसारी प्राणियों को बाहर कुछ भी शरण नहीं है। इस मनुष्य का यह परिपुष्ट शरीर भी किसी दुःख को मेटने के लिए शरण नहीं होता। हाँ वह तो भोजन के लिए सदैव तैयार रहता है। भोजन में

तो भले ही सहाई हो जाय यह शरीर, पर कोई दुःख आ पड़ने पर यह शरीर दुःख से छुटाने के लिए शरण नहीं होता। बड़े प्रयत्न से धन कमाया गया हो वह भी तो अन्य भव में साथ नहीं जाता, और भले ही किसी समय यह लौकिकशरण बन जाय, पर यह ही कमाया हुआ धन कभी अपने प्राण के भी विनाश का कारण बन जाता है। जैसे डाकू आयें, धन भी छीन जाय, प्राण भी हर लें, तो बाहर में इस जीव को ये समागम कुछ भी शरण नहीं हैं। ऐसे बड़े-बड़े मित्र जो हमारे सुख-दुःख में साथी रहे वे भी मरणकाल में रक्षा कर सकने वाले नहीं हैं। कुटुम्ब के परिजन, बंधुजन, मित्रजन सबके सब मिलकर भी वेदना को नहीं हर सकते हैं। कोई रोग हो गया तो भले ही रोगवश परिजन चिकित्सा करने में उद्यमी रहें, पर रोग से उत्पन्न हुए दुःख को वे बाँट नहीं सकते। तो जगत में इस जीव का कुछ भी शरण नहीं है। हाँ शरण है तो केवल अपने द्वारा आचरण किया गया धर्म इस विपत्ति रूप समुद्र से तिरने का उपाय है। वही वास्तव में शरण है। मृत्यु समय भी जिन जीवों के आत्मस्वभाव की दृष्टि रहती है उनके कोई दुःख ही नहीं है। तो स्वयं ही अपने आपके लिए उस समय भी शरण बन गए। तो इस संसार के संकटों से बचाने के लिए धर्म ही शरण है, अन्य कुछ भी शरण नहीं, ऐसी भावना करना अशरण अनुप्रेक्षा है। जो पुरुष अशरण भावना आते हैं—मैं सदैव अशरण हूँ, ऐसी भावना के कारण उनको संसार का उद्वेग होता है और सांसारिक भवों में ममत्व नहीं रहता है। भगवान अरहंत सर्वज्ञ देव द्वारा उपदेशे गए वचनों में भी विश्वास होता है। इस अशरणानुप्रेक्षा में मूल आधार अपने आत्मा की स्वभावदृष्टि है और जिसने अपने अंतस्तत्त्व को शरण माना है उन्हीं को इन बाहरी पदार्थों की अशरणता का भाव धर्म मार्ग में ले जाता है, और इससे कर्मों का सम्वर होता है।

संवर तत्त्व की कारणभूत संसारानुप्रेक्षा में संसार असंसार नोसंसार और विलक्षण अवस्थावों का वर्णन—संसारानुप्रेक्षा—कर्मोदय के निमित्त से इस आत्मा को जो अनेक भवों में भ्रमण करना पड़ता है इसका नाम संसार है। यह संसार असार है, दुःख रूप है, इस प्रकार की भावना करना संसारानुप्रेक्षा है। आत्मा की अवस्थायें चार प्रकार की होती हैं—(१) संसार, (२) असंसार, (३) नोसंसार और (४) इन तीनों से विलक्षण। संसार नाम तो चारों गतियों में जहाँ कि नाना योनि और जन्म भेद हैं उन गतियों में परिभ्रमण करना इसे कहते हैं संसार। असंसार संसार के भ्रमण से छूट जाना और फिर कभी भी इस संसार में न आना, किन्तु मोक्ष पद के विरुद्ध अमूर्त आनन्द का ही अनुभव रहना यह असंसार कहलाता है। नोसंसार सयोग केवली अरहंत भगवान के बतायी गई है। अब उनके चारों गतियों में भ्रमण न रहा, इस कारण से संसार नहीं कह सकते। और मोक्ष की प्राप्ति न हुई इस कारण असंसार नहीं कह सकते, किन्तु वहाँ ईसत संसार है। थोड़े ही समय बाद उनकी मुक्ति होने वाली है। उनकी अवस्थावों को नोसंसार कहते हैं। अयोग केवली भगवान के ये तीनों ही स्थितियाँ नहीं हैं। संसार तो चतुर्गति भ्रमण न होने के कारण नहीं है। मुक्त अवस्था न होने से असंसार भी नहीं है और प्रदेशों का परिस्पंद न रहने से नोसंसार अवस्था भी नहीं है। इस कारण अयोग केवली भगवान के इन तीनों से विलक्षणता है। यहाँ संसारी प्राणियों के कदाचित शरीर का हलन चलन भी न हो तो भी अन्तर में सतत् प्रदेश का हलन चलन रहता है। चाहे समाधि दशा में हो, विग्रह गति में हो या कैसा ही बेहोश पड़ा हो, जब तक घातिया कर्मों का नाश नहीं हुआ तब तक तो निरन्तर प्रदेश चलन है और घातिया कर्मों का नाश होने पर भी संसार तो रहा नहीं, पर सयोग अवस्था जब तक रहती है तब तक योग है सो वह नोसंसार कहलाता है। सिद्ध भगवान के प्रदेश परिस्पंद नहीं और अयोग केवली के भी

नहीं है। अब यहाँ संसार अवस्था पर विचार कीजिए, यह संसार अनादि परम्परा से चला आया है, सो अभव्य जीव के तो अनादि अनन्त संसार है। और भव्य जीवों की सामान्य दृष्टि से देखें तो उनका भी अनादि अनन्त संसार है, क्योंकि संसार में भव्य सदा रहेंगे, भव्यों से खाली न हो जायगा संसार, पर विशेष रूप से देखें तो कोई भव्य मुक्ति को प्राप्त करेंगे इस कारण वे अनादि सान्त कहलाते हैं। असंसार अवस्था सादि अनन्त है, मुक्ति की आदि तो है पर वे मुक्त सदैव रहेंगे इसलिए वे अनन्त हैं। नोसंसार अवस्था सादिसान्त है। सयोग केवली हुए तो उनकी आदि तो है और सयोग केवली अनन्त काल रहेंगे नहीं, उसके बाद अयोग केवली बनेंगे, मुक्ति पायेंगे। तो सयोग केवली का सदा काल रहना नहीं है। इस कारण से सान्त है और इन तीनों से विलक्षण अयोग केवली का काल अन्तर्मुहूर्त का है।

संसार विषयक विस्तृत विचार में द्रव्य व क्षेत्र की अपेक्षा से विचार—अब यहाँ संसार विषयक भेदपूर्वक विचार कीजिए। यह संसार चार प्रकार का है—(१) कर्मरूप संसार, (२) नोकर्म-रूप संसार (३) वस्तु रूप संसार और (४) विषयरूप संसार। यह चार प्रकार का संसार द्रव्य अपेक्षा से विचारिये। यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव पांच के निमित्त से होने वाले संसार का लक्षण बताया जा रहा है। ८ प्रकार के कर्म बँधते हैं और उनके वशीभूत होकर संसार में भ्रमण होता है, यह कर्म संसार है। शरीर के आश्रय से भावनायें बिगड़ती हैं और संसार में भ्रमण होता है और शरीर की अनेक स्थितियाँ बनती हैं यह नोकर्म संसार है। वस्तु के आश्रय से जो संसरण चलता है वह वस्तु संसार है। विषयों का आश्रय करने से जो संसरण होता है और विषयों में ही उपयोग का भ्रमण होता रहता है यह विषय संसार है। क्षेत्र के निमित्त से होने वाला संसार दो प्रकार का है–स्वक्षेत्र संसार और परक्षेत्र संसार। स्वक्षेत्र संसार तो अपने पाये हुए शरीर प्रमाण क्षेत्र में अवगाह होना और नये-नये शरीर मिले तो उन शरीर प्रमाण क्षेत्र में संसरण करना स्वक्षेत्र संसार है। यह आत्मा लोकाकाश के प्रमाण प्रदेश वाला है। लोकाकाश में जितने असंख्यात प्रदेश हैं उतने ही प्रदेश जीव में हैं, सो उन कर्मों के उदय काल में यह आत्मा जिसके कि प्रदेश संकुचित होते और फैलते रहते हैं ऐसे संकोच और विसर्पण के धर्म वाले आत्मा का शरीरादिक के भेदों से हीनाधिक पुरुषों के परिमाण में रहना और इस प्रकार संसरण होना स्वक्षेत्र संसार है, और बाह्य क्षेत्र में परिभ्रमण होना सम्मूर्छन, जन्म, गर्भ, उपपादन आदि ६ प्रकार की योनियाँ हैं, इनका आलम्बन लेकर जो परक्षेत्र में संसरण होता है वह परक्षेत्र संसार है।

काल व भव की अपेक्षा से संसार का वर्णन—काल दो प्रकार का कहा गया है—(१) परमार्थकाल और (२) व्यवहार काल। परमार्थ काल तो काल द्रव्य है। जो समय समय रूप परिणमन है उसका निमित्त पाकर जो योगपरिस्पंद या भावपरिवर्तन रूप जो तीन काल में परिभ्रमण हो रहा है वह काल संसार है। भवनिमित्तक संसार—जीवसमासों में परिभ्रमण रूप है। जीव समास १४ बताये गए हैं और इनसे भी अधिक विकल्प किया जा सकता है। ३२ प्रकार के भी भव कहे गए हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारों सूक्ष्म भी होते, वादर होते, पर्याप्त होते, अपर्याप्त होते, इस प्रकार १६ भेद ये हुए। वनस्पतिकाय दो तरह के हैं—(१) प्रत्येक शरीर और (२) साधारण शरीर। प्रत्येक शरीर दो तरह के हैं—(१) पर्याप्त और (२) अपर्याप्त, साधारण शरीर ४ तरह के हैं–(१) सूक्ष्म (२) वादर (३) पर्याप्त और (४) अपर्याप्त। इस प्रकार ६ भेद ये हुए। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चारइन्द्रिय ये पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इस प्रकार ६ भेद ये हुए। पञ्चेन्द्रिय जीव सैनी पर्याप्त, सैनी अपर्याप्त, असंज्ञी पर्याप्त, असंज्ञी अपर्याप्त, चार भेद ये हुए, ये सब मिलकर ३२ प्रकार के होते

हैं। इनके संसरण को भव संसार कहते हैं।

भावनिमित्तक संसार व संसारानुप्रेक्षा का उपसंहार—भावनिमित्तक संसार दो प्रकार का है—(१) स्वभाव संसार और (२) विभाव संसार। स्वभाव संसार तो आत्मा के मिथ्यादर्शन आदिक परिणाम हैं। और यही जीव का वास्तविक संसरण है कि जो वह अपने विकार भावों में प्रवर्तित होता रहता है। परभाव संसार है ज्ञानावरणादिक कर्मों के रस अनुभाग आदिक। इस प्रकार यह जीव इन अनेक योनियों में, कुलों में भ्रमण करता हुआ कर्मरूपी यंत्र से प्रेरित होकर पैदा होकर भाई पुत्र, पौत्र हो जाता है। माता होकर बहिन, भार्या, पुत्री आदि हो जाता है। और की तो बात क्या, स्वयं ही अपने आपका पुत्र हो जाता है। जैसे कि भोग के अनन्तर ही मर गया वह भोगने वाला और तुरन्त उस ही स्त्री के पेट में जन्म ले ले तो स्वयं का ही पुत्र बन जाता है, इस प्रकार यह संसार एक विकट गहन बन है। यहाँ दुःख ही दुःख है। सारका कोई नाम नहीं है, संसार की प्रत्येक स्थिति में कष्ट ही कष्ट है, ऐसा चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। जो महाभाग संसारानुप्रेक्षा की भावना करता है वह संसार के दुःख के भय से विरक्त हो जाता है और विरक्त होकर इस ही संसार के नष्ट करने के लिए उद्यमी होता है, तो वह उद्यम क्या है जिसके द्वारा यह संसार नष्ट हो ? वह उद्यम है अपने स्वभाव की दृष्टि करना और स्वभाव अपने आपको अनुभवना यह है उसका उपाय जिससे कि संसार से छूटकर मोक्ष में पहुँच सकेंगे। सारभूत केवल आत्मा का स्वभाव सहज परमात्मतत्व, उसका आलम्बन ही सारभूत है, शेष क्रियायें ये सब बाहरी बातें हैं। इनसे जीव को मोक्षमार्ग नहीं मिलता।

संवर की कारणभूत एकात्वानुप्रेक्षा का वर्णन—एकत्वभावना—जन्म, बुढ़ापा, मरण होते रहना कि महान् दुःख के अनुभवन करने के प्रति कोई सहाय नहीं है। केवल एक इस जीव को ही अपनी परिणतियाँ भोगनी पड़ती हैं। इस प्रकार का चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस जीव के सम्बंध में यहाँ एकत्व है या अनेकत्व, इन दोनों तत्वों का विचार किया जा रहा है। एकत्व है यह भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सिद्ध होता हैं और अनेकत्व, यह बात भी आत्मा के गुण पर्याय की दृष्टि से सिद्ध होता है। जीव में द्रव्य का एकत्व क्या है कि जितने जगत के पदार्थ हैं उन समस्त जीवादिक पदार्थों में एक स्वयं के द्रव्य का विचार चल रहा है। तो यह एक जीव तो स्वतन्त्र सत् है और पूर्ण है, एक है, अखण्ड है, यों द्रव्य को एक रूप में निरखना यह द्रव्य का एकत्व है, क्षेत्र का एकत्व क्या है ? एक परमाणु के उतने क्षेत्र को जितना घिरा सके वह एक प्रदेश मात्र है, वह क्षेत्र का एकत्व है, अथवा यह समस्त असंख्यातप्रदेशी आत्मा अखण्ड ही तो है। उसमें विस्तार है, सो प्रदेश कल्पना हुई है, पर वस्तुतः तो एक अखण्ड क्षेत्र वाला है। काल का एकत्व क्या है ? एक समय का परिणमन और उस ही परिणमनरूप अपने भावों को निरखना यह काल का एकत्व है। भाव का एकत्व है मोक्षमार्ग। अब इस ही आत्मा के बारे में अनेकत्व भी देखना चाहें तो व्यवहार से अनेकत्व भी परख लीजिए। यह अनेकत्व भेद विषयक है। गुण पर्यायों का समूह यह द्रव्य है। ऐसे उसमें अनन्त गुण और अवस्थायें निरखने में दृष्टि से भेद नजर आता है। असंख्यात प्रदेशी है, इस विस्तार को देखने से इसके भेद दृष्टगत होते हैं। सर्वथा भेद कुछ नहीं है। आत्मवस्तु तो प्रत्येक अखण्ड-अखण्ड है मगर दृष्टि में एक विशेष आता है, इस कारण से अनेकपना विदित होता है। काल की अपेक्षा अनेकपना, समय-समय में पर्यायें होती हैं और ऐसी अनन्त पर्यायें हुई हैं, अनन्त पर्यायें होंगी और वर्तमान में कोई एक पर्याय है। तो यों पर्यायों पर दृष्टि देने से काल की अपेक्षा जीव का एकत्व ज्ञात होता है, भाव की अपक्षा अनेकत्व कैसे ज्ञात

होता है, भाव मायने गुण, उन गुणों की अपेक्षा अनेकपना नजर आया है। जैसे यही जीव ज्ञानी है, चारित्रवान है आदिक अनेक भेद नजर आयेंगे, सो वस्तु में यह एक ही है या अनेक ही हैं यह कुछ निश्चित नहीं किया जाता। जब अभेद निश्चय से देखा जाय तो एकपना है, भेद व्यवहार से देखा जाय तो अनेकपना है। एक भी वस्तु सामान्य की अपेक्षा एक नजर आयगी तो विशेष की अपेक्षा अनेक रूप नजर आयगी। तो यहाँ तो उद्देश्य होना चाहिए भावएकत्व का। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की एकता हो जाना। जब इस भव्य आत्मा को यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है तो उस ही में इसकी एकत्ववृत्ति बनती है। उसका उपाय क्या है ? सर्व प्रथम तत्वज्ञान करना, वस्तु का स्वरूप जानना, उससे अपने आत्मा की रुचि बनेगी, फिर आत्मकरुणा के कारण यह बाह्य और अंतरंग उपाधियों का त्याग करेगा। उसके सम्यग्ज्ञान होगा, अपने आपके एकत्व का निश्चय करेगा, ऐसा अपने आपके ज्ञानस्वरूप एकत्व में रहने वाले भव्य आत्मा के यथाख्यात चारित्र की वृत्ति बनती है। वह है मोक्ष मार्ग और भावएकत्व।

सर्वत्र अपने आत्मा के एकाकित्व की निरख—मोक्ष मार्ग की प्राप्ति के लिए यह मैं एक ही हूँ, इसे कोई दूसरा न करेगा। अन्य कुछ भी मेरा स्व नहीं है, और वर्तमान में भी जो हालत हो रही है वहाँ भी एक मैं ही तो भव धारण करता हूँ। दूसरा मिलकर नहीं करता। मरता भी मैं अकेला ही हूँ, मेरे कोई स्वजन परिजन मित्र, कुटुम्ब कोई भी मेरे रोग बुढ़ापा, मरण आदिक दुःखों को नहीं बाँट सकते हैं। बन्धु मित्र भी अधिक से अधिक श्मशान तक चले जायेंगे। मरण के बाद इस अचेतन शरीर को वे लोग जलाते ही हैं या और कुछ करेंगे, पर इसके आगे उनका और क्या सम्बन्ध रहा जीव से ? तो कुछ सम्बन्ध न रहा। केवल एक मृतक देह इसका ऊपरी सम्बन्ध अगर सोचा जाय तो श्मशान तक है। कोई पुरुष मेरा साथी नहीं है। मैं अकेला ही सर्वत्र अपने परिणामों को भोगता हूँ। धर्म ही मेरा सहायक है। धर्म ही मेरे को विनाश से बचाता है और वह मुझमें अविनश्वर है, सदैव है, उसकी दृष्टि करना यह मेरे को लाभदायक है। ऐसा चिन्तन करने को एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं। जो आत्मा इस एकत्व की भावना करता है उसके फिर स्वजनों में भी, कुटुम्ब में भी प्रीतिका सम्बन्ध नहीं रहता और परिजनों में द्वेष बुद्धि नहीं होती। मैं सर्वत्र एक हूँ, मेरा दूसरा न कोई शत्रु है, न मित्र है, न उपकारक है, उपकार में भले ही उदयानुसार निमित्त होते हैं दूसरे लोग, मगर जो कुछ गुजरता है, जो अनुभव बनता है वह सब मुझ एक में ही बनता है। इस तरह एकत्व भावना भाने वाला जीव निसंगता को, निष्परिग्रहता को प्राप्त होता हुआ मोक्ष के लिए पौरुष करता है।

संवर तत्त्व की कारणभूत अन्यत्वानुप्रेक्षा का विवरण—अन्यत्व भावना—मैं शरीर से निराला हूँ, शरीर मुझसे निराला है। मैं अमूर्तिक चैतन्यमात्र हूँ। ऐसा यह मैं शरीर से अन्य हूँ। मुझसे शरीर अन्य है, ऐसे लक्षण भेद से अपने अन्यत्व का चिन्तन करना, पर पदार्थों के अन्यत्व की भावना करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। अन्यपना चार प्रकार से सिद्ध होता है—(१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य ओर (४) भाव। इन चार दृष्टियों से भेद निरखिये आत्मा है, जीव है, जितने शब्द हैं उन शब्दों से नाम भेद ज्ञात होता है। अन्य-अन्य द्रव्यों के भी नाम लीजिए तो नाम की दृष्टि से भेद पड़ना नाम भेद कहलाता है। काष्ठ की प्रतिमा है, पाषाण की प्रतिमा है, इस प्रकार का भेद होना यह स्थापना भेद कहलाता है। यह जीव द्रव्य है, यह अजीव द्रव्य है, इस प्रकार का भेद जानना यह द्रव्य भेद कहलाता है। एक ही जीव में, एक ही मनुष्य में यह बालक है, जवान है, वृद्ध है, मनुष्य है, इस प्रकार के भावों

का भेद करना भाव भेद कहलाता है। तो यहाँ देखिये इस समय यह जीव कर्मों से बँधा है, शरीर से बँधा है, तो बंध के प्रति एकत्व होने पर भी लक्षण के भेद से इनमें जुदा-जुदापन ज्ञात होता है। कर्म पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें हैं, जीव के विकार का निमित्त पाकर उन कार्माण वर्गणावों में कर्मत्व आता है। सो यह कर्मत्व भी कर्म की चीज हैं कर्म पौद्गलिक हैं, देह प्रकट पौद्गलिक है, इसका रूप, रस, गंध, स्पर्श सब नजर आ रहा, उसका आकार मूर्तिक नजर आ रहा, किन्तु जीव आकाश की तरह अमूर्त पदार्थ है। जीव ज्ञानमय है, प्रतिभास स्वरूप है, सर्व पदार्थों से जुदा है। ऐसा जीव को शरीर से भिन्न देखना यह अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

परमार्थ अन्यत्व की प्राप्ति के लिये अन्यत्वानुप्रेक्षा में अनुप्रेक्ष्य तथ्य—किसी भव्यात्मा के सम्यक्त्व जगा, चारित्र बना, चारित्र में वृद्धि हुई तो उसके शरीर से अत्यन्त भिन्न रूप से वहाँ स्वाभाविक ज्ञानादिक अनन्त गुण प्रकट होते हैं। उन गुणों में अवस्थित होने का नाम मुक्ति है। तो इस मुक्ति को ही अन्यत्व कह लीजिए, याने अब यह शरीर और कर्म से अन्य हो गया, निराला हो गया, इसी का नाम है मोक्षपद। यह तो एक परम अन्यत्व है। जैसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता एकत्व है ऐसे ही शरीर कर्म से भिन्न हो जाना यह अन्यत्व है इस अन्यत्व की प्राप्ति के लिए क्या-क्या चिन्तन करना चाहिए ? शरीर इन्द्रिय का पिण्ड है। सारा शरीर स्पर्शनइन्द्रिय है, रसना, घ्राण, चक्षु वर्ण में इन्हीं के बीच कुछ थोड़े से क्षेत्र हैं। समग्र इन्द्रियका पिण्ड यह शरीर है, किन्तु मैं तो इन्द्रिय रहित हूँ। इन्द्रियाँ शरीर में हैं मुझ आत्मा में इन्द्रियाँ नहीं। यह मैं आत्मा तो प्रतिभास स्वरूप अखण्ड सत् है। शरीर अज्ञ है, अचेतन है, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, शरीर विनाशीक है, जीर्ण शीर्ण होने वाला है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि अन्त से सहित हैं। मैं अनादि अनन्त हूँ। यद्यपि अब तक लाखों शरीर धारण किए गए हैं, अनन्त शरीर धारण किए गए हैं, किन्तु मैं उनसे भिन्न एक चेतन ही रहा। और चेतत ही हूँ। तो जब शरीर से ही मैं निराला हूँ तो बाह्य धन वैभव परिग्रह की तो बात ही क्या है ? मैं समग्र परद्रव्यों से निराला हूँ और कर्मोदय जन्म विकार से भी मैं निराला हूँ। ऐसा अन्यत्व का चिन्तन करने से शरीर आदिक में आसक्ति स्पृहा नहीं होती और ऐसा भव्य आत्मा फिर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने लगता है।

संवरतत्व की कारणभूत अशुचित्वानुप्रेक्षा का वर्णन—अशुचित्वभावना—अपने शरीर के अशुचिपने का चिन्तन करना। यह मनुष्य देह हाड़, मांस, खून, चमड़ी आदिक का पिण्ड है, इसमें कोई सारभूत तत्त्व नहीं है, ऐसा शरीर की अशुचिता का चिन्तन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। शुचिपना दो प्रकार से हुआ करता है। (१) लौकिक शुचि (२) अलौकिक शुचि। अलौकिक शुचिपना क्या है कि कर्ममल कलंक को धोकर आत्मा को आत्मा में ही अवस्थित हो जाना, ज्ञानका इस ज्ञान स्वभाव में ही एक रूप हो जाना, ज्ञानस्वभाव का ही जाननहार ज्ञान रहे, यह है अलौकिक पवित्रता, जहाँ किसी प्रकार का विकार नहीं, खेद नहीं। तो अलौकिक पवित्रता प्राप्त करने का कारण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र और इस रत्नत्रय के धारण करने वाले साधुजन और ऐसे साधुजन जहाँ निवास करते हों ऐसा तीर्थ क्षेत्र, वे जहाँ से निर्वाण को प्राप्त हुए हों ऐसा सिद्ध क्षेत्र ये सब मोक्ष प्राप्ति के उपाय करने वाले के साधन बनते हैं। लौकिक पवित्रतायें ८ तरह की हैं, कोई चीज समय गुजरते ही पवित्र होने लगती है। जैसे कोई स्त्री एक चटाई के आसन पर बैठी है, उसके उठने के बाद थोड़े समय तक कुछ कल्पनायें रहती हैं, वहाँ साधुजन नहीं बैठते। कुछ समय गुजरने के बाद फिर उसी आसन पर साधुजन बैठ जाते हैं। कई चीजें ऐसी हैं कि कुछ काल व्यतीत हो जाने पर वे अपने आप शुद्ध कहलाती

हैं। कोई चीज अग्नि से शुद्ध होती हैं, कोई बर्तन अछूत हो गया तो उसे अग्नि से शुद्ध कर लिया, कोई चीज भस्म से शुद्ध होती है। साधारण जूठा हो उसे माँज लिया, कोई चीज मिट्टी से शुद्ध होती है, शौच हो आये, हाथ से मिट्टी को धो लिया। हाथ तो वही है जिससे शौचशुद्धि की थी, पर मिट्टी से धोने के बाद बिल्कुल पवित्र मान लिया जाता। कोई चीज गोबर से ही शुद्ध होती। जैसे कोई बच्चा किसी जगह टट्टी कर दे तो उस जगह गोबर लीप देने से फिर वहाँ पवित्रता मानी जाती। कोई चीज पानी से ही शुद्ध हो जाती। पानी से चीज को धो लिया, लो चीज शुद्ध हो गई। कोई चीज ज्ञान से, कल्पना से शुद्ध होती। अनेक बातें ऐसी हैं जो ग्लानिरहित होने से ही शुद्ध होतीं। उस वस्तु के प्रति किसी बात ग्लानि न रहे तो उसे शुद्ध मान लिया, पर यह शरीर न तो लौकिक दृष्टि से शुद्ध है और न अलौकिक दृष्टि से शुद्ध है।

शरीर की अशुचिताका चिन्तन—भैया कोई भी उपाय नहीं हैं ऐसा जो कि इस शरीर को पवित्र कर सकता है। मानो नहा लिया तो उसने अनुभव कर लिया कि मैं ठीक हो गया हूँ, मैं अब प्रभु भक्ति करुँगा, भोजन करुँगा, सो वह करता है, व्यवहार भी ऐसा करना चाहिए, मगर वास्तविकता देखो कि क्या शरीर पवित्र बन गया ? शरीर में रहने वाले हड्डी खून आदिक क्या बदल गए ? यह शरीर अत्यन्त अशुचि है। इस शरीर का कारण भी अशुचि है, इस शरीर का कार्य भी अशुचि है। शरीर का कारण क्या है ? माता पिता का रजवीर्य, वह भी अशुचि है। शरीर का कार्य क्या है ? भोजन किया, मल बना, पसेव निकला, ये शरीर के कार्य हैं, वे भी अपवित्र हैं। जब शरीर में भोजन पहुँच जाता है तो पहले तो उसे चबाकर खाया, तो शरीर का कार्य यहीं देख लो कि वह चबाया हुआ, मुख में रखा हुआ भोजन कैसा ग्लानि के योग्य होता है ? वह भोजन पेट में पहुँचा, वहाँ कफ जैसा पतला वह अशुचि बन जाता है। पित्ताशय में पहुँचा तो खट्टा बन जाता है, वाताशय में पहुँचा तो वायु विभक्त होकर फल और रस रूप से विभाजित हो जाता है। खल भाग से मल, पसीना आदिक विकार बनते हैं, रस भाग से खून, मांस, हड्डी आदिक धातुवें बनती हैं, तो ये सारे शरीर के कार्य अपवित्र ही तो हैं। इन सब अशुचि पदार्थों का स्थान यह शरीर है, जैसे कि सड़कों पर मैला इकट्ठा करने का स्थान मैलाघर है ऐसे ही सारी अपवित्र चीजों का यह शरीर मैलाघर है। इसकी अपवित्रता हटाने का कोई उपाय नहीं है। कोई लेप किया जाय, स्नान किया जाय, धूप खेकर सुगंधित बनाया जाय, माला पहिनाई जाय, इत्र लगाया जाय, किसी भी उपाय से शरीर की अपवित्रता दूर नहीं होती। अंगारे की तरह अपने सम्पर्क में आये हुए पदार्थ को यह शरीर अपनी तरह बना लेता है। जैसे अग्नि का सम्पर्क जिस ईंधन से हो जाय उस ईंधन को आग बना लेगी ऐसे ही शरीर का जिससे भी सम्पर्क हो जाय, यह उस वस्तु को अपवित्र बना देगा। कोई पुरुष पानी से नहा ले तो उस नहाये हुए पानी से कोई नहाना पसंद नहीं करता, वह अपवित्र माना जाता। तो शरीर अत्यन्त अशुचि है।

आत्मस्वरूप की शुचिताका निरखन व अशुचित्वानुप्रेक्षा की उपयोगिता—अपने आत्मा को निरखिये तो वह तो पवित्र है। अमूर्तिक है, ज्ञान दर्शन आदिक सहज गुणों का पिण्ड है। समस्त विश्व का जाननहार है, और ऐसे आत्मस्वभाव का आलम्बन करके बराबर इस ही स्वभाव की भावना करके जो आत्मा में सम्यक्त्वादिक गुण प्रकट होते हैं वे आत्मा को प्रकट पवित्र बना देते हैं। इस प्रकार आत्मा की तो पवित्रता निरखना है और शरीर की अपवित्रता निरखना है। यह अशुचि भावना है। जो भव्य जीव ऐसी अशुचित्व की भावना करते हैं, स्मरण करते हैं, पुनः पुनः चिन्तवन करते हैं उनको

शरीर से वैराग्य हो जाता है। एक बहुत मोटे रूप में शरीर को निरखकर सोचना है कि यह शरीर कुछ ही वर्षों बाद मित्रों द्वारा श्मशान में जला दिया जायगा। ऐसा जो निरन्तर भाव रखेगा शरीर के प्रति उसे शरीर में आसक्ति नहीं होने की। यद्यपि कर्मबन्धन में बँधे होने से, कर्म विपाक उदय में होने से कुछ पीड़ा आदिक का अनुभव करता है, फिर भी शरीर की अशुचिता, विनाशीकता जानने वाले पुरुष के शरीर में आसक्ति नहीं होती। जिस जीव को शरीर से विरक्ति है वह पूर्ण विरक्त हो सकता है। वैराग्य में बाधक यह शरीर का प्रेम है। जिसका शरीर से ही प्रेम हट गया उसको दुनिया की किसी भी वस्तु से प्रेम न होगा। तो ऐसी अशुचि भावना भाने के फल में यह भव्यात्मा परम विरक्त होकर जन्म समुद्र से पार उतरने के लिए अपना पौरुष करता है। सो यह अशुचि भावना सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में लगने की प्रेरणा करता है, और इस प्रकार यह अपने स्वरूप के अभिमुख होता है। यो यह जीव इन भावनावों के प्रताप से कर्म का सम्वर करता है, कर्मों का क्षय करता है और मुक्ति पद को प्राप्त होता है।

संवर की कारणभूत आस्रवानुप्रेक्षा का वर्णन—आश्रवानुप्रेक्षा—आत्मा के जिन विकारभावों का निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माण शरीर कर्मत्वरूप परिणमते हैं उन विकारभावों को आश्रव कहते हैं, इस आश्रव के सम्बन्ध में चिन्तन करना कि ये दुःखदायी हैं, आत्मा के स्वभाव नहीं है, इनसे जुदा होने में ही कल्याण है। ऐसे इन चिन्तनों को आश्रवभावना कहते हैं। यहाँ शंकाकार कहता है कि आश्रव के स्वरूपका वर्णन छठे अध्याय में हो ही चुका है, फिर उसका ग्रहण यहाँ क्यों किया गया? समाधान—यद्यपि आश्रव तत्व का निरूपण हो चुका है। फिर भी यहाँ अनुप्रेक्षा में आश्रव का ग्रहण किया, वह आश्रव के गुण और दोष का विचार करने के लिए है। आश्रव के दोष का विचार करना आश्रवानुप्रेक्षा है। आश्रव में गुण तो होते ही नहीं, पर आश्रव भावना में गुण होते हैं। आश्रव तो स्वयं दोषयुक्त है। आश्रव इस लोक में और परलोक में विनाश का कारण है। आश्रव में इन्द्रिय कषाय आदिक भाव ही तो प्रधान हैं। सो इन्द्रिय आदिक का उन्माद इस जीव को महानदी के प्रवाह की तरह बड़ा तीक्ष्ण है, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय का उन्माद वन के हाथी को आता है तो उस मद में अंधा होकर कृत्रिम हथिनियों को देखकर मत्त होकर गड्डे में गिरकर मनुष्यों के आधीन हो जाता है। तब बंध बंधन, बोझा लादना, अंकुश सहना-महावत के आधीन रहना आदि अनेक तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं और ये कर्म के दुःख जो हैं सो तो हैं ही, पर पहले जो स्वच्छंद फिरते थे वह स्वच्छंदता छिन जाने से पराधीनता की बात का ख्याल कर करके वह निरन्तर दुःखी रहता है। रसना इन्द्रिय के वश होकर मरे हुए हाथी के मदजल में डुबकी लगाने वाले पक्षियों की तरह अनेक प्राणी आपत्तियों के शिकार होते हैं। और इसमें मांस लोलुपी मछली का दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है। जिह्वाइन्द्रिय के वश होकर वह अपने प्राण गवां देती है। घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर प्राणी अपने प्राण गवां देते हैं, जैसे जड़ी के गंध से लुब्ध साँप नाश को प्राप्त होता है। नेत्रइन्द्रिय के वशीभूत हुए पतिंगे दीपक पर आ आकर मरते हुए देखे ही गए, ऐसे ही सभी जीव चतुरिन्द्रिय के वश होकर आपत्तियों के सागर में पड़कर दुःख उठाते हैं, श्रोत्रेन्द्रिय के वश होकर प्राणी के गायन की ध्वनि सुनने से तृणों को चरने वाले हिरण भी अपना कर्त्तव्य भूलकर जाल में फंस जाते हैं उसी प्रकार अनेक प्राणी इन इन्द्रियों के वश होकर अनर्थ के शिकार होते हैं। ऐसे आश्रव के कारण इस लोक में कष्ट तो होता ही है पर परलोक में भी अनेक दुःखों से भरी हुई अनेक योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है, इस प्रकार आश्रव के दोष का विचार आश्रवानुप्रेक्षा में होता है, और इस अनुप्रेक्षा से उत्तम क्षमा आदिक धर्मों में यह श्रेयस्कर है इस प्रकार की बुद्धि बन जाती है।

संवरकी कारणभूत संवरानुप्रेक्षा का वर्णन—सम्बरानुप्रेक्षा-आश्रव का निरोध होना सम्वर है, जिन भावों के द्वारा आश्रव रूक जाता है, कार्माण वर्गणाओं में कर्मत्व नहीं आता है वह भावसम्वर तत्त्व कहलाता है, यद्यपि सम्वर तत्व का स्वरूप भी पहले बता दिया गया है और खासकर इस ६ वें अध्याय में सम्वर का स्वरूप विस्तार पूर्वक कहा जा रहा है, फिर भी अनुप्रेक्षावों में सम्वरका ग्रहण इस कारण किया है कि सम्वर तत्त्व के गुणों का विचार करने से सम्वर तत्व प्रकट होता है। सम्वर ही इस जीव का शरण है, जैसे किसी नाव में छिद्र हो और पानी आ जाय, नाव डूबने को हो सके तो उसका सर्वप्रथम उपाय छिद्र को बंद करना है। उसमें नया पानी न आये फिर पुराने पानी को उलीच दिया जाय तो नाव सुगमता से किनारे पहुँच जायगी ऐसे ही इस जीव के आश्रव भावों के छिद्र से पानी आ रहा है, कर्म आ रहे हैं, उन कर्मो को पहले रोकना आवश्यक है। तो आश्रव का निरोध करना सम्वर है। उन दुर्भावों के छिद्र बन्द कर दिये जायें तो अब नये कर्म नहीं आते। नवीन आये कर्मों को तपश्चरण से अलग कर दिया तो यो मुक्ति के निकट पहुँचते हैं। सम्वर तत्व इस जीव का परम शरण है, और यहाँ तक कि सिद्ध भगवान के सदा कर्मों का सम्वर रहता है। कभी कर्म आ ही नहीं सकते। यद्यपि वहाँ सम्वर तत्व का प्रयोग नहीं किया गया, क्योंकि गुप्ति आदिक साधनों की आवश्यकता क्या, लेकिन वहाँ आत्मा का जो शुद्ध पूर्ण विकास है सो कर्म स्वयं आते ही नहीं हैं। ऐसा सम्वर के गुणों का विचार करना सम्वरानुप्रेक्षा है।

संवर की कारणभूत निर्जरानुप्रेक्षा का वर्णन—निर्जरानुप्रेक्षा--निर्जरा नाम है वेदना विपाक का। अर्थात् कर्मों का विपाक आना, झड़ना निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकार की होती है—(१) अबुद्धिपूर्वक निर्जरा और कुशल मूला निर्जरा। नारकादिक गतियों के कर्मफल मिलते हैं, फल भी भोगा जाता है और उस विपाक के भोग से जो कर्म दूर होते हैं वह अबुद्धिपूर्ण निर्जरा है। इस निर्जरा से आत्मा का उद्धार नहीं है। फिर पाप का बंध होगा। फिर संसार में रुलना चलेगा। हाँ कुशलमूला निर्जरा से आत्मा का उद्धार है। परिषहविजय और तप आदिक करने से कुशलमूला निर्जरा होती है। इस निर्जरा के समय या शुभ प्रकृतियों का बंध होता है या बंध बिल्कुल हट जाता है। अथवा दोनों ही होते रहते हैं। इस तरह निर्जरा के गुण और दोष का चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। यहाँ अबुद्धिपूर्ण अथवा सविपाक निर्जरा का दोष विचार में लाया गया है और कुशलमूला अथवा अविपाक निर्जरा का का यहाँ गुणविचार किया है। वद्ध कर्मों में यदि अविपाक निर्जरण न हो, उन कर्मों में शिथिलता न की जा रही हो तो कर्मों का पूर्ण क्षय किस प्रकार हो सकेगा ? बल्कि निर्जरा होती है। कर्मों का क्षय नहीं हो पाता, सो निर्जरा तत्व के गुणों का विचार करना यह आत्मा का पुरुषार्थ है और इससे मुक्ति प्राप्त होती है।

संवर की कारणभूत लोकानुप्रेक्षा का वर्णन—लोकानुप्रेक्षा—लोक सम्बन्धी आराधना का चिन्तन करना लोकभावना है। लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से वैराग्य और अनुराग होता है। तत्वज्ञानादिक की शुद्धि हो जाती है। चित्त में रागद्वेष दूर होते हैं। सो लोक सम्बन्धी आकार का चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा सम्वर का हेतुभूत है। लोक तीन भागों में बँटा है—(१) अधोलोक (२) मध्यलोक और (३) अर्द्धलोक। यह लोक नीचे से ऊपर तक १४ राजू है। और इसका विस्तार एक ओर से एक-एक राजू है और भीतर गहराई की ओर ७–७ राजू है। त्रसनाली से बाहर नीचे त्रसनाली समेत ७ राजू है, ऊपर एक राजू है। और ऊपर बीच में ५ राजू है। सर्वोपर एक राजू है। यह सारा

क्षेत्र ३४३ घनराजू प्रमाण होता है। एक राजू का प्रमाण बहुत अधिक है। केवल एक प्रस्तार ही रूप में जम्बूद्वीपादिक असंख्याते द्वीप समुद्र जो एक दूसरे से दुगुने विस्तार वाले हैं एक राजू के अन्तर्गत समा गए हैं उतने विशाल लोक में यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र के कारण अनादि काल से भ्रमण करता चला आया है, और इसको स्वयं में संतोष होगा ही क्यों, क्योंकि कषाय की अग्नि से धधक रहा है, यह जीव बड़े दु:ख में पड़ा हुआ है। यदि अपने आत्मस्वरूप का भान करे तो यह लोक के भ्रमण से दूर हो सकता है। सो लोक का इतना विशाल स्वरूप चिन्तन करने से वैराग्य होगा, धर्म में अनुराग होगा और आत्ममग्नता के उपाय भी मिलेंगे। यह तो लोकानुप्रेक्षा इसी कारण सम्वर का हेतुभूत है।

संवरतत्व की कारणभूत बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का वर्णन—बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—बोधि कहते हैं रत्नत्रय को। रत्नत्रयका प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। उस दुर्लभ रत्नत्रय के स्वरूप का चिन्तन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। यह जीव अनादिकाल से बहुत समय तक निगोद में रहा। जहाँ एक सेकेण्ड में २२–२३ बार जन्म मरण करते रहना पड़ा। बहुत निकृष्ट दशा है। वहाँ से यह जीव किसी प्रकार निकला तो यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति में जन्म लेता रहा। त्रस पर्याय का पाना बड़ा दुर्लभ रहा। सुयोग से त्रस पर्याय प्राप्त की, तो वहां भी श्रेष्ठ मनुष्यादिक होना दुर्लभ रहा। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव भी हुए तो सम्यक्त्वका पाना दुर्लभ रहा। सम्यक्चारित्र तो मनुष्यभव के सिवाय अन्य कहीं होता ही नहीं है। मनुष्य होना, निर्ग्रन्थवाद धारण करना, आत्मचिन्तन करना ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। ऐसे इस दुर्लभ बोधि का चिन्तन करना बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा है। आगम में बताया गया कि एक निगोद शरीर से जीवों की संख्या सिद्धों की संख्या से अनन्त गुनी है। अथवा यों कहो कि अतीत काल के समय की संख्या से अनन्त गुनी है। ऐसे इन अनन्त स्थावरों में से कोई जीव त्रस पर्याय पा ले यह इतना दुर्लभ है जैसे अनन्त रेत कणों के समुद्र में गिरे हुए हीरे की कनी मिल सके फिर त्रस में भी अगर यह जीव आया तो दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय रहा, पञ्चेन्द्रियपना पाना दुर्लभ है, और वह ऐसा दुर्लभ है जैसे गुणों में कृतज्ञता का मिलना दुर्लभ है। सर्व गुणों में श्रेष्ठ कृतज्ञता का गुण है, जो मनुष्य कृतज्ञ नहीं हो सकता उसमें कोई गुण नहीं पनप सकते। वह तो विषयों का लोलुपी मोही ही अधिक है जो दूसरे के किए हुए उपकार को जान नहीं सकता, मान नहीं सकता। तो जैसे गुणों में कृतज्ञता का मिलना दुर्लभ है ऐसे ही पञ्चेन्द्रियपना पाना दुर्लभ है। पञ्चेन्द्रिय में पशु बना, पक्षी बना, ये पर्याय मिले तो भी क्या विशेष लाभ पाया। तो वहाँ भी मनुष्य पर्याय का पाना ऐसा दुर्लभ है जैसे चौराहे पर रखा हुआ रत्न किसी को मिल जाय वह दुर्लभ है। यदि कोई मनुष्य पर्याय पाले और उसे विषयों में गवा दे तो फिर मनुष्यपर्याय पाना उतना कठिन है जैसे जले हुए पेड़ में से अंकुर निकलना कठिन है। मनुष्य पर्याय पुन: मिल भी जाय तो भी हित अहित के विचार से रहित असंख्याते मनुष्य पाये जाते हैं। एक समय में असंख्याते नहीं तो संख्याते पाये जाते हैं पर्याप्तक। वह खोटा देश, खोटा कुल मिलने से बेकार हैं। मनुष्य भी हुए और उत्तम देश मिले, उत्तम कुल मिले, यह उत्तरोत्तर कठिन है। किसी को देश अच्छा मिल रहा, कुल भी उत्तम मिल गया, जिसमें कि शील, विनय, सदाचार की परम्परा रहती हो, ऐसा कुल मिल जाने पर भी लम्बी आयु मिलना इन्द्रिय का बल मिलना, शरीर नीरोग रहना यह उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इतनी भी बातें मिल जायें तो भी सद्धर्म की प्राप्ति तो नहीं हुई। सम्यक्त्व का लाभ यदि नहीं हुआ तो वह मनुष्य भव ऐसा व्यर्थ है जैसे कि नेत्रहीन मुख व्यर्थ है।

कितने ही मनुष्य ऐसे दुर्लभ धर्म को पाकर भी विषय सुखों में समय बितायें तो वे मानों राख पाने के लिए चंदन बन को जलाने की तरह मूर्खतापूर्ण बात है। सो विषयों से विरक्त होना कठिन है। कोई पुरुष विषयों से विरक्त भी हो गया तो तप में भावना रहना, अपने धर्म की प्रभावना रहना, समाधिपूर्वक मरण होना यह बहुत कठिन है। तो जो मनुष्य भव पाकर उत्तम धर्म की साधना करते हैं, तपश्चरण और धर्म में प्रगति करते हैं और अन्त में समाधिभाव प्राप्त करते हैं उनका बोधिदुर्लभ सफल कहा जा सकता है। इस बोधिधर्म से ही जीव का संकटों से छूटना होता है, ऐसा चिन्तन करना बोधि दुर्लभ भावना है। इस चिन्तन से बोधि को प्राप्त करके भव्य जीव प्रमादरहित होकर अपने कल्याण में लगे रहते हैं।

संवरकी हेतुभूत धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन—धर्मानुप्रेक्षा—धर्म आत्म स्वभाव को कहते हैं। आत्मा का स्वभाव है चैतन्य, (सहज ज्ञान, सहज दर्शन) तथा उसकी दृष्टि होना, उसका उपयोग होना, उस ही में रमण करना यह धर्मपालन कहलाता है। इस आत्मस्वभावरूप धर्म का परिचय पाने के लिए आत्मा की अवस्थावों का परिचय किया जाता है ताकि उन पर्यायों से जीवका वाह्य परिचय ज्ञात हो और यह भान हो जाय कि इन सब अवस्थावों में जीव का एक स्वरूप चैतन्य भाव सदा अन्तः प्रकाशमान होता है। जैसे मनुष्यपना समझने के लिए बालक कुमार, जवान, वृद्ध आदिक मनुष्य का परिचय किया जाता है, ऐसे ही आगम में जीव समास गुणस्थान मार्गणावों का वर्णन करके जीव का परिचय कराया गया है। उन सब गुणस्थान मार्गणावों में आत्मस्वरूप की खोज की जाती है। यद्यपि वहाँ प्रकट रूप में पर्याय से ही परिचय है, परन्तु पर्याय स्वयं तो असत् है, पर्याय रूप में जीव ही है, सो इस उपाय से पर्याय को गौणकर जीव के अन्तः स्वरूप का परिचय हो जाया करता है।

चतुर्दश मार्गणाओं में गति, इन्द्रिय जाति, काय, योग, वेद, कषाय की मार्गणाओं में भावों का संघटन—मार्गणायें १४ कही गई हैं—(१) गति (२) इन्द्रिय (३) काय, (४) योग (५) वेद (६) कषाय (७) ज्ञान (८) संयम (९) दर्शन (१०) लेश्या (११) भव्यत्व (१२) सम्यक्त्व (१३) संज्ञी और (१४) आहारक। इन सब मार्गणावों में यह बात देखिये कि जो कर्मोपाधिजन्य अवस्था है वह तो विकृत अवस्था है और कर्मोपाधिरहित अवस्था स्वाभाविक अवस्था है। जैसे गति मार्गणा में नारकादिक चार गतियां कर्मोदय से हुई हैं किन्तु मोक्ष अवस्था गतिरहित स्थिति कर्मों के क्षय से हुई है। इन्द्रिय मार्गणावों में एकेन्द्रिय आदिक गतियाँ कर्मकृत हैं, पर आत्मा की अतीन्द्रिय दशा यह क्षायिक है, कायमार्गणा में ६ प्रकार के कायिक त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से होते हैं, पर कायरहित दशा नामकर्म का अत्यन्त विनाश होने पर होती है। योग मार्गणा में योग वाली स्थितियाँ कर्मोदय जन्य हैं, पर योगरहित अवस्था योग के हेतुभूत कर्म के हटने से होती है। वेदमार्गणावेद के उदय से स्त्री वेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद होते हैं। पर वेदरहित अवस्था उपशम श्रेणी में औपशमिक है। क्षपक श्रेणी में क्षायिक है। कषाय मार्गणा में जो कषाय बतायी गई है वह चारित्र पर्याय को कसती है। घात करती है। इसी कारण वह कषाय कहलाती है। ये कषाय कर्मोदय जन्य हैं, पर कषायरहित अवस्था उपशम श्रेणी में औपशमिक है, क्षपक श्रेणी में और ऊपर के गुणस्थानों में क्षायिक है।

ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या व भव्यतत्व की मार्गणा में भावों का संघटन—तत्वार्थ का बोध करना ज्ञान कहलाता है। ज्ञान ५ प्रकार के होते हैं—तीन खोटे ज्ञान भी होते हैं। मिथ्यादर्शन के उदय से मति, श्रुत, अवधिज्ञान कुज्ञान हो जाते हैं और मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये ज्ञानावरण के क्षयोप

शम से होते हैं, किन्तु केवल ज्ञान ज्ञानावरण के क्षय से होता है। तो जो स्वभाव पर्याय है वह तो कर्मोपाधि के दूर होने से प्रकट होती है। जो विकृत पर्याय है वह कर्मोदयजन्य होती है। संयम नाम है व्रत, समिति, कषाय विग्रह, दंडत्याग और इन्द्रियजय। इन वृत्तियों से होने वाला संयम ५ प्रकार का बताया गया है और जो कि चारित्र मोह के उपशम, क्षय व क्षयोपशम से होता है, संयमासंयम क्षयोपशम से होता है, असंयम कर्मोदय होता है, पर इन सबसे अतीत जो सिद्धत्व अवस्था है वह कर्म के क्षय से होती है। दर्शन मार्गणा में जो स्वाभाविक स्थिति है केवल दर्शन वह तो कर्मों के क्षय से होता है। शेष दर्शन क्षयोपशम से होता है। कषाय से अनुरंजित योग परिणाम को लेश्या कहते हैं। ये छहों प्रकार की लेश्यायें कर्मोदयजन्य हैं, पर लेश्यारहित स्थिति कर्म के हटने से मिलती है, जो निर्वाण पाने की योग्यता है, यह योग्यता जिसके प्रकट हो सकती है वह भव्य कहलाता है। जिसमें निर्वाणपने की योग्यता प्रकट न हो सके वह अभव्य कहलाता है। ये दोनों पारिणामिक भाव हैं, पर सिद्ध भगवान सिद्ध स्थिति भव्य और अभव्य से अतीत है।

सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक की मार्गणावों का संघटन व जीव समासों का संक्षिप्त निर्देशन— सम्यक्त्वमार्गणा में सम्यग्दर्शन, दर्शन मोह के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होता है। इसके विपरीत मिथ्याभाव मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होता है। सासादन सम्यक्त्व अनन्तानुबंधी के उदय से होता है इस कारण यह औदयिक है। समयग्मिथ्यात्व यद्यपि समयग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होता है तो भी सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति स्वयं एक शिथिल प्रकृति जैसी है, जिससे वह क्षयोपशम की तरह है और इस कारण से सम्यग्मिथ्यात्व को क्षायोपशमिक कहा गया है। संज्ञी मार्गणा में संज्ञी उसे कहते हैं जो शिक्षा क्रिया और वचन व्यवहार आदिक को ग्रहण कर सके, और जो शिक्षा, क्रिया, वचन व्यवहार को ग्रहण न कर सके वह असंज्ञी है। संज्ञीपना क्षायोपशमिक है क्योंकि वह नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होता है, और असंज्ञीपना औदपिक है, जो न संज्ञी है न असंज्ञी है, उनकी अवस्था क्षायिक है। आहारक मार्गणा में आहारक उसे कहते हैं कि जो उपभोग के योग्य, शरीर के योग्य पुद्गल को ग्रहण करें। सो पुद्गल का ग्रहण करना आहार है और ग्रहण न कर सकना अनाहार है। आहार होता है तब जब शरीर नामकर्म का उदय हो और विग्रह गति नाम कर्म का उदय न हो। और अनाहार तब होता है जब औदयिक वैक्रियक शरीर इन तीन नाम कर्मों का उदय न हो, और विग्रहगति नाम कर्म का उदय हो, इस प्रकार धर्मभावना के बीच वस्तु के स्वरूप का परिचय हुआ करता है और तत्त्व का ध्यान किया जाता है। मार्गणास्थानों में जीवस्थान घटना घटाना तो बहुत ही आसान है। जीवस्थान अर्थात् जीवसमास १४ कहे गए हैं। कहीं अन्य प्रकार भी कहा गया है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जीव, इनमें से एकेन्द्रिय के दो भेद करके बादर और सूक्ष्म तथा पञ्चेन्द्रिय दो भेद करके संज्ञी और असंज्ञी इन ७ भेदों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक यों १४ जीवसमास होते हैं, सो यह बहुत ही स्पष्ट है और मार्गणा स्थानों में सुगमतया घटित किया जा सकता है।

मार्गणाओं में गुणस्थानों के घटन के प्रसंग में गतिमार्गणा में गुणस्थानों का घटन—अब इस ही परिचय के बीच मार्गणास्थान में गुणस्थानों की सत्ता देखिये गुणस्थान कहते हैं जघन्य दशा से लेकर सम्यक्त्व और चारित्र गुणों की प्रगति के स्थानों को। नरकगति में नारकी जीव जो पर्याप्तक हैं उनमें चार गुणस्थान होते हैं–मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यक्त्व। सातों ही पृथ्वियों में, पर्याप्तकों में चार गुणस्थान पाये जा सकते हैं। अब विशेष की अपेक्षा देखिये पहले नरक में जो अपर्याप्तक जीव हैं

अर्थात् अन्य भव से आकर पहले नरक में जो जन्म ले रहे हैं, व पर्याप्त नहीं हो पाये हैं उनमें दो ही गुणस्थान होते हैं, मिथ्यात्व और अविरत सम्यक्त्व। दूसरे गुणस्थान में मरण करने वाला जीव किसी भी नरक में उत्पन्न नहीं हो सकता। इस कारण अपर्याप्त में दूसरा गुणस्थान कहीं न मिलेगा। तीसरे गुणस्थान में मरण नहीं होता तो जन्म कैसे होगा? अतः अपर्याप्त में तीसरा गुणस्थान भी न मिलेगा। दूसरे आदि शेष नरकों में, अपर्याप्तकों में केवल एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है, इसका कारण है कि सम्यक्त्व में मरण करने वाला जीव दूसरे आदि नरकों में नहीं जा सकता। प्रथमोपशम सम्यक्त्व में तो मरण होगा नहीं। क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव यदि नरक जायगा तो उसका सम्यक्त्व छूट जायगा। केवल क्षायिक सम्यक्त्व ही है ऐसा कि जिसमें मरकर यह जीव पहले नरक तक जा सकता है। तिर्यञ्च गति में पर्याप्तक तिर्यञ्चों में आदि के ५ गुणस्थान ही होते हैं, वहाँ उनके अपर्याप्तकों में ३ गुणस्थान ही पाये जायेंगे। मिथ्यात्व, सासादन सम्यक्त्व और अविरत सम्यक्त्व। तिर्यञ्चों में जो तिर्यञ्चिनी हैं पर्याप्तिका हैं उनमें आदि के ५ गुणस्थान होंगे, किन्तु अपर्याप्तक तिर्यञ्चनियों में आदि के दो ही गुणस्थान होते हैं। (१) अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीभव नहीं पाता। मनुष्यगति में पर्याप्तक मनुष्य में १४ ही गुणस्थान होते हैं, अपर्याप्तकों में तीन गुणस्थान होते हैं। पहला, दूसरा, चौथा, क्योंकि तीसरे गुणस्थान में मरण ही नहीं है। जो पर्याप्तिका मानुषी है याने स्त्री आदिक भाववेद की अपेक्षा तो भावस्त्री में १४ ही गुणस्थान हो जाते हैं। असल में तो भाव स्त्रीवेद ९ वें गुणस्थान तक ही हो पाता है और ९ वें गुणस्थान में ही मिट जाता है। ऊपर तो कोई सा भी वेद नहीं रहता। न भाव पुरुषवेद रहता, न भाव स्त्रीवेद रहता, न भाव नपुंसक वेद रहता फिर भी जिसका भाव स्त्रीवेद था वही तो वेद से रहित होकर क्षपक श्रेणी में ऊपर चढ़कर मोक्ष गया है इस दृष्टि से कहा जाता है। द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा पर्याप्तिकामानुषी में याने स्त्री में आदि के ५ गुणस्थान होते हैं, जो मानुषी अपर्याप्तिका है उनमें दो ही गुणस्थान होते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व के साथ जो मरण करे वह स्त्रीभव में उत्पन्न नहीं होता। देवगति में भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव जो अपर्याप्तक हैं उनमें आदि के ४ गुणस्थान ही होते हैं और इन भवनत्रिकों में अपर्याप्तकों में आदि के दो ही गुणस्थान हैं, क्योंकि सम्यक्त्व में मरण कर भवनत्रय में उत्पन्न नहीं हो सकते। इसी प्रकार उन भवनत्रिकों की देवियों में और पहले दूसरे स्वर्ग के कल्पवासी देवियों में, पर्याप्तकों में चार गुणस्थान और अपर्याप्तकों में आदि के दो गुणस्थान होते हैं। सौधर्म, ईसान आदिक नवग्रैवयक पर्यन्त देवों में आदि के चार गुणस्थान होते हैं। और इसी अपर्याप्तकों में मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यक्त्व ये तीन गुणस्थान होते हैं। नवग्रैवयक से ऊपर अर्थात् अनुदिश और अनुत्तर विमान वाले देवों में चाहे वे पर्याप्त हों अथवा अपर्याप्त हों उनमें अविरत सम्यक्त्व नामका एक ही गुणस्थान है।

इन्द्रिय जाति व काय की मार्गणा में गुणस्थानों का घटन—इन्द्रियजाति मार्गणा में एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रि और पर्याप्तकों में मिथ्यात्व गुणस्थान ही है। किन्तु अपर्याप्तकों में मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान हो सकते हैं। लेकिन सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त और अग्निकायिक पर्याप्त और अपर्याप्त, वायुकायिक पर्याप्त व अपर्याप्त इनमें दूसरा गुणस्थान नहीं होता। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में १४ ही गुणस्थान होते हैं, पर सैनी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तकों में पहला, दूसरा, चौथा गुणस्थान तो मरण की अपेक्षा है। छठवा गुणस्थान मिश्र काय योग की अपेक्षा है और १६ वां गुणस्थान केवली समुद्घात की अपेक्षा है। यद्यपि सयोग केवली भगवान संज्ञी नहीं हैं,

किन्तु अभी पञ्चेन्द्रिय कहा जाता है। इस कारण यहाँ शामिल किया है। काय मार्गणा में पृथ्वीकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय इन तीन में अपर्याप्तकों में शुरू के दो गुणस्थान हैं और अग्निकाय तथा वायु काय में अपर्याप्तकों में पहला ही गुणस्थान है तथा इन पाँचो ही में पर्याप्तका पहला ही गुणस्थान होता है। त्रसकाय में १४ ही गुणस्थान हैं।

योग, वेद व कषाय की मार्गणा में गुणस्थानों का घटन—योग मार्गणा में सत्य मनोयोग और अनुभय मनोयोग में १३ गुणस्थान होते हैं। सत्य वचन योग, और अनुभय वचनयोग के प्रारम्भ से १३ गुणस्थान हैं। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता जानना कि अनुभय वचन योग तीन इन्द्रिय आदिक विकलत्रयों के भी होते हैं। वहाँ इस अनुसार गुणस्थान हैं। असत्य वचन योग और उभय वचनयोग में प्रारम्भ से १२ गुणस्थान तक है। औदारिक काय योग में प्रारम्भ से १३ गुणस्थान हैं। औदारिक मिश्र काययोग में ४ गुणस्थान इस प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) अविरत सम्यक्त्व और (४) सयोगकेवली। वैक्रियक काययोग में मिथ्यात्व, सासादन, अविरत सम्यक्त्व ये तीन गुणस्थान हैं। आहारक काययोग और आहारक मिश्र काययोग में सिर्फ प्रमत्त संयम नामका छठा ही गुणस्थान है। कार्माण काय योग में मिथ्यात्व, सासादन, अविरत सम्यक्त्व और सयोग केवली ये चार गुणस्थान हैं। जिनके योग नहीं है उनमें एक १४ वाँ ही गुणस्थान है, और योग रहित सिद्ध भी होते हैं, वे गुणस्थान से अतीत हैं। वेद मार्गणा में स्त्रीवेद और पुरुषवेद, इसमें असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यात्व से लेकर ९ अनवृत्तिकरण नामक ९ तक गुणस्थान हैं, नपुंसक वेद में एकेन्द्रिय से लेकर प्रारम्भ से ९ गुणस्थान तक हैं। एकेन्द्रिय में नपुंसक होते ही हैं और वे पर्याप्त की अपेक्षा प्रथम गुणस्थान में अपर्याप्त हैं। अपर्याप्त की अपेक्षा दूसरा गुणस्थान भी सम्भव है। नारकी जीव तो वे सब नपुंसक ही होते हैं, तिर्यञ्च जीव एकेन्द्रिय से लेकर चौइन्द्रिय तक नपुंसक ही होते हैं। इस असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में तीनों ही वेद सम्भव हैं और वे ५ वें गुणस्थान तक हो सकते हैं। मनुष्य तीनों ही वेदों में रहकर शुरू के ९ गुणस्थानों में रह सकते हैं। ९ वें गुणस्थान के उत्तरार्द्ध में और इससे ऊपर सब मनुष्य अपगतवेद होते हैं। देव स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनों वेदों में होता है और उनमें चारों गुणस्थान हो सकते हैं। कषायमार्गणा में क्रोध, मान माया, इन तीन कषायों में तो पहले गुणस्थान से लेकर ९वाँ गुणस्थान तक हो सकता है, पर लोभ कषाय में १० वाँ गुणस्थान भी होता है। १०वें गुणस्थान से ऊपर के जीव सब कषायरहित होते हैं।

ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या व भव्यत्व की मार्गणा में गुणस्थानों का घटन—ज्ञान मार्गणा में कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान, इनमें मिथ्यात्व और सासादन दो ही गुणस्थान हैं, इसी प्रकार कुअवधिज्ञान में भी मिथ्यात्व और सासादन दो ही गुणस्थान हैं। मिश्र गुणस्थान में कुमति और सुमति मिलवा मिश्र ज्ञान हुआ करता है, किन्तु वह मिश्रज्ञान यदि खोंटे और सच्चे इन २ ज्ञानों में से किसी में भी सम्मिलित करने बैठें तो सम्यग्ज्ञान में तो सम्मिलित नहीं हो सकते, वे कुज्ञान में सम्मिलित होंगे। इसलिए यह भी कह सकते हैं कि कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान में तीन गुणस्थान होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान में चौथे गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक के जीव होते हैं। मनःपर्यय ज्ञान में छठे गुण स्थान से लेकर १२वें गुण स्थान तक होते हैं। केवल ज्ञान में सयोग केवली और अयोग केवली ये दो गुण स्थान हैं, और केवलज्ञान सिद्ध के भी होता है। संयम मार्गणा में सामयिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों में छठे गुणस्थान से ९ गुणस्थान होते हैं। परिसर विशुद्धि संयम छठे और ७ वें गुणस्थान में होता है। सूक्ष्म साम्पराय संयम केवल १० वें गुणस्थान में है, यथाख्यात संयम ११वें, १२वें, १३वें और १४वें गुणस्थान में होता है। संयमासंयम ५वें गुणस्थान में होता है। असंयम

प्रारम्भ के चार गुणस्थानों में होता है। संयम, असंयम और संयमासंयम इन तीन से रहित सिद्ध भगवान हुआ करते हैं। दर्शनमार्गणा में चक्षुदर्शन में मिथ्यात्व से लेकर क्षीणकषाय तक १२ गुणस्थान होते हैं। अचक्षुदर्शन में भी प्रारम्भ के १२ गुणस्थान होते हैं। यहाँ विशेष यह जानना कि चक्षुदर्शन तो चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय में होता है और अचक्षुदर्शन एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक सभी में होता है।, पर गुण-स्थान योग्यता के अनुसार जानना। अवधिदर्शन में चौथे गुणस्थान से लेकर १२वें गुणस्थान तक होते हैं केवल दर्शन में सयोग केवली और अयोग केवली होता है। केवल दर्शन सिद्ध के भी होता है। भव्तत्व मार्गणा में भव्य १४ गुणस्थानों में मिलेंगे, अभव्य केवल पहले गुणस्थान में ही होते हैं।

सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक की मार्गणाओं में गुणस्थानों का घटन—सम्यक्त्व मार्गणा में औपशमिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर ११ वें गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर ७ वें गुणस्थान तक ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर १४ वें गुणस्थान तक होता है। सिद्ध में भी क्षायिक सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व मार्गणा में इतनी विशेषता है कि नरकगति में पहले नरक में जो चौथे गुणस्थान में हैं उनके तीनों सम्यक्त्व सम्भव हैं। किसी के कुछ किसी के कुछ। पर दूसरे आदिक नरकों में क्षायिक सम्यक्त्व कभी नहीं होता। शेष के दो सम्यक्त्व हैं। तिर्यञ्चगति में जिन के चौथा गुणस्थान है उनके तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं, पर क्षायिक सम्यक्त्व भोगभूमिया के तिर्यञ्च में मिलेगा। जो तिर्यञ्च कर्मभूमि में हैं उनके क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च भोगभूमि में ही हुआ करते हैं। मनुष्य के चौथे, ५वें, छठे, ७वें गुणस्थान में तीनों ही सम्यक्त्व हैं। ७वें गुणस्थान से ऊपर उपशम श्रेणी के ८वें ९वें १०वें गुणस्थान में औपशमिक सम्यक्त्व भी हो सकता है और क्षायिक सम्यक्त्व भी हो सकता है। क्षपक श्रेणी में और उससे भी ऊपर केवल क्षायिक सम्यक्त्व होता है। इसी प्रकार देवगति में भवनत्रिक और उनकी देवियाँ और पहले दूसरे स्वर्ग की देवियाँ इनके क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है। शेष दो ही सम्यक्त्व सम्भव हैं और सौधर्म स्वर्ग से लेकर नवग्रैवयक तक तीनों प्रकार के सम्यक्त्व सम्भव हैं। अनुदिश और अनुत्तर विमान के देवों में क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दो ही सम्यक्त्व सम्भव हैं। संज्ञी मार्गणा में प्रारम्भ के १२ गुणस्थान सम्भव हैं संज्ञी में। किन्तु असंज्ञी जीवों में केवल दो ही गुणस्थान सम्भव हैं। और जो न संज्ञी हैं न असंज्ञी है अनुभय है, उनमें १३वाँ और १४वाँ गुणस्थान है और ऐसा अनुभय सिद्ध भी होता है। आहारक मार्गणा में पहले गुणस्थान से १३ वें गुणस्थान तक होता है। अनाहारक में विग्रह गति की अपेक्षा पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान होता है और केवली समुद्घात वर्ती सयोग केवली गुणस्थान होता है और अयोग केवली तो सदा अनाहारक होता है। सिद्ध भगवान गुणस्थान से अतीत हैं। वे भी अनाहारक हैं। इस प्रकार वस्तु स्वरूप का जहाँ परिचय है, ऐसे ज्ञानी पुरुष के द्वारा जो आत्मधर्म की साधना चलती है वह मोक्ष का कारण है, यही भगवन्त अरहंत देव ने कहा है। ऐसा चिन्तवन करना धर्मानुप्रेक्षा है।

धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तन शब्द के विषय में विवृत्तिः-१२ वीं भावना का नाम धर्मस्वाख्या-तत्त्वानुचिन्तन है। तो यहाँ स्वाख्यात शब्द के सम्बंध में कुछ जिज्ञासा हुई है कि यह शब्द किस प्रकार बना? तो यहाँ स्व आख्यात ऐसी संधि नहीं है किन्तु सु आख्यात ऐसी संधि है। सुका अर्थ है उत्तम और आख्यातका अर्थ है प्रसिद्धि होना, प्रकट होना। धर्मभाव के प्रकट होने के विषय में चिन्तन होना यह १२ वीं अनुप्रेक्षाका अर्थ है। यहाँ अनुप्रेक्षा शब्द चूंकि भावसाधन है, इस कारण बहुवचन न होना

चाहिए। ऐसी आशंका होती है। भावप्रधान शब्दों में एकवचन हुआ करता है, क्योंकि भाव में एकत्व होता है। यदि कोई यह समाधान करना चाहे कि हम अनुप्रेक्षा को कर्म साधन मान लेंगे तो कर्मस्थान मान लेने पर फिर समान अधिकरण्य न बनेगा, क्योंकि अनुप्रेक्षा अन्य हो गई। और अनुचिन्तन अन्य हो गया। यदि यहाँ यह हठ किया जाय कि अनुचिन्तन ही तो अनुप्रेक्षा है तो ऐसा अगर विशेष्य विशेषण बनाया जाय तब फिर दूसरा लिङ्ग न होना चाहिये। दूसरा वचन न होना चाहिए। इस प्रकार की जिज्ञासा में शंका हुई है। दोनों का उत्तर इस प्रकार है कि चूंकि अनुप्रेक्षा शब्द में जो प्रत्यय लगा है वह कृदन्त प्रत्यय लगकर बना है। सो भले ही भाव साधन में निरुक्ति की जाय तो भी कृदन्त में जो भावसाधक प्रत्यय लगा करते हैं उनका द्रव्य की तरह अर्थ होता है। तद्धित के भाव के लिए प्रत्यय लगना और बात है और कृदन्त में जीवस्थान का प्रत्यय लगना और बात है। तो कृदन्त के भावसाधक शब्द द्रव्य की तरह प्रयुक्त होते हैं इस कारण १२ अनुप्रेक्षा होने से अनुप्रेक्षा शब्द में वहुवचन को दिया गया है। अब कर्मसाधन की बात सुनिये। चूंकि कर्मसाधन दोनों शब्द हैं, अनुचितन भी हैं और अनुप्रेक्षा भी हैं। जो चिन्ता जाय सो अनुचिन्तन है, जो परखा जाय सो अनुप्रेक्षा है, सो दोनों ही कर्मसाधन होने से दोनों समान अधिकरण्य बन जायेंगे।

द्वितीय सूत्र में धर्म व परीषहविजय के मध्य अनुप्रेक्षा शब्द रखने का कारण—इस प्रसंग में जो कि सम्वर के हेतुवों का वर्णन कर रहा है उसमें धर्म और परीषहजय इन दो के बीच अनुप्रेक्षा शब्द कहा गया है। उसका एक रहस्य है। वह रहस्य यह है कि अनुप्रेक्षा धर्म और परिषह दोनों में साधक निमित्त है। अनुप्रेक्षा में भावनायें होती हैं। तो बार बार तत्व की भावना होने से यह जीव परिषहों को जीतने के लिए समर्थ होता है। तो चूंकि परीषहजय धर्मपालन और परिषहविजय दोनों कार्यों के लिए एक उत्साह और भाव भरता है इस कारण दोनों के बीच अनुप्रेक्षा शब्द रखा है। जैसा कि इस नवम अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा गया है। जो मुनि बारबार आत्मा के विषय में अनित्यादिक प्रक्रियावों से भावना भरते हैं उन भावनाओं के प्रसाद से अन्त:प्रकाशमान सामान्य कारण समयसार की बार बार दृष्टि बनाते हैं तो उससे उत्पन्न हुए सहज आनन्द के अनुभव से तृप्त होता हुआ यह मुनि परीषहों के जीतने में सुगमतया सफल हो जाता है। अन्तरंग के शुद्ध तत्व की भावना का इतना उत्कृष्ट प्रभाव है कि मुनियों को यह पता भी नहीं पड़ता कि मेरे को कोई उपसर्ग या परीषह हुआ है। और कदाचित किन्हीं मुनियों को ज्ञात भी हो जाय तो ज्ञानबल के प्रसाद से समता से परीषहों पर विजय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अध्यात्म चिन्तन में उत्तभ क्षमा आदिक धर्मों का पालन सुगमतया और समीचीन प्रकार से हो जाता है, अतएव अनुप्रेक्षा का महत्व बताने के लिए धर्म और परीषहजय के बीच अनुप्रेक्षा का कथन किया गया है। यहाँ तक अनुप्रेक्षावों का वर्णन किया गया। अब सम्वर के हेतुवों में अनुप्रेक्षा के बाद परीषह विजय का नम्बर आता है। इस कारण परीषहजय का व्याख्यान होगा, फिर भी व्याख्यान से पहले यह जिज्ञासा होती है कि परीषहों का सहन किसलिए किया जाता है। दूसरी बात-परिषह यह संज्ञा अन्वयर्थ है या रूढ़ है, इसका समाधान करने के लिए सूत्र कहते हैं।

मार्गाच्यवननिजरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥९—८॥

परीषह सहन करने के प्रयोजन:—मार्ग से न गिरने के और कर्मों की निर्जरा लिए परीषह सहन करने चाहिए। यहां परीषह शब्द चार अक्षर वाला है, उससे छोटा भी नाम हो सकता था, किन्तु परीषह शब्द में ही पूरा अर्थ आ जाय, इस लिए यह शब्द दिया है। चारों ओर से किसी भी प्रकार का

उपसर्ग आये तो आत्मा को सर्व प्रदेशों में अध्यात्म विज्ञान द्वारा जो एक तृप्ति होती है उस तृप्ति के से ये सब सुगम हो जाया करते हैं। यह सम्वर का प्रकरण है, इस कारण मोक्ष पद का प्राप्त कराने वाला जो सम्वर तत्त्व है उसका ही मार्ग ही दिखाया जा रहा है, यह चित्त में धारण करना चाहिए। तो वह जो सम्बर का प्राप्त कराने वाला मार्ग है, उस मार्ग से च्युत न हो जाऊँ, इस भावना से मुनिजन परीषहों पर विजय प्राप्त करते हैं। कुछ परीषह तो जान बूझकर सहे जाते हैं और कुछ परीषह किसी दूसरे कारण से आ जाते हैं इस प्रकार आगंतुक भी होते हैं। सर्व प्रकार के परीषहों पर समता से विजय करने वाला शुद्ध मार्ग से नहीं गिरता जो परिषहें जान बूझकर सही जाती हैं उसका भी कारण यह है कि वह अपने आपमें ऐसा दृढ़ हो जाय कि इससे भी कठिन परीषह आयें तो उस समय भी मैं अपने मार्ग से च्युत न हो जाऊँ। जो मुनि कर्म के आने के द्वारों को रोक लेता है अर्थात् सम्वर तत्त्व प्राप्त कर लेता है वह जैनेन्द्र मार्ग से मैं कभी च्युत न होऊँ, इस उद्देश्य से परीषहों को पहले से ही विजय कर लेते हैं। परीषहों के विजय करने के एक कारण तो मार्ग से नहीं गिरते हैं। दूसरा प्रयोजन है कर्मों की निर्जरा। जो मुनि परीषहों को जीत लेते हैं, परीषहों से तिरस्कृत नहीं होते वे प्रधान सम्वर तत्त्व का आश्रव करके भीतर एक स्वतन्त्र रूप से अपने विकास के करने में सफल होते हैं और वे क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर सकें, ऐसी सामर्थ्य को पाते हैं और क्षपक श्रेणी पर चढ़कर समस्त कषायों का विध्वंस कर ज्ञान ध्यान रूपी कुल्हाड़ी से इन मूल कर्मों को छेदकर नाशकर ऐसी ऊपर प्रगति करते हैं कि जैसे मानो किसी पक्षी के पंख में धूल लग गई हो तो वह एकदम पंख फड़फड़ाकर धूल को झाड़कर ऊपर उड़ जाया करती है, तो यों निर्जरा के लिए ये परीषहें सहन की जानी चाहिएं। परीषहों के विजय का प्रयोजन जानकर अब जिज्ञासा होती है कि वे परीषह कितने हैं और कौन-कौन हैं, उनका निर्देश करने के लिये सूत्र कहते हैं।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाच्ञालाभरोगतृण-स्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९—९ ॥

संवर हेतु भूत परीषह विजय का वर्णन :—क्षुधा परीषह आदिक ३२ परीषहें होती हैं। ये बहिरंग और अतरङ्ग द्रव्य के परिणमन रूप हैं, और शारीरिक मानसिक प्रकृष्ट पीड़ा के कारणभूत हैं। परीषहों का सहन साधारण पुरुषों से सम्भव नहीं है, उन परीषहों के विजय में विद्वान, संयमी, मोक्षार्थी पुरुषों को भले प्रकार पौरूष करना चाहिये, क्योंकि परीषहों के आ पड़ने पर धीरता खो दी जाय, संक्लेश परिणाम किया जाय तो उससे पुण्यरस घटता है, पापरस बढ़ता है, और उसके दु:ख सम्भव हो जाया करते हैं। तो जो विवेकी पुरुष हैं उनका यह कर्त्तव्य है कि परीषहें कैसी भी आयें चाहे प्रकृत्या आ जायें, चाहे दूसरे जीवों के आक्रमण से आ जायें, सभी प्रकार परीषहों पर विजय करने का ज्ञान रूप पौरुष करना चाहिए। एक ढंग से सोचा जाय तो जितने भी परीषह हैं वे सब परतत्त्व हैं। कोई शरीर पर आक्रमण कर रहा, शरीर परतत्त्व है, कहीं सम्मान अपमान में कुछ सोच रहा है तो वह भी परतत्व है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, इस कारण जिसको दृढ़ भेद विज्ञान हो गया है उनके परीषह विजय करने में कोई कठिनता नहीं होती। ये परीषह २२ हैं, जिनमें प्रथम परीषह का स्वरूप कहा जा रहा है।

संवरहेतुभूत क्षुधा परीषह का वर्णन :—प्रथम परीषह विजय का नाम है 'क्षुधा परीषह विजय' भूख का दु:ख आया हो तो उस परीषह पर विजय करना क्षुधा परीषह विजय है। क्षुधा परीषह

पर कौन विजय कर पाते ? मुनिजन, जिन्होंने शरीर के समस्त संस्कार छोड़ दिया है और शरीर मात्र जिनका उपकरण है, किसी भी बाह्य परिग्रहका जिनके सम्बंध नहीं है, जो दोषोंको दूर करने में निरन्तर सावधान रहते हैं। साधु के साधना के प्रसंग में चूंकि पूर्वबद्ध कर्म का उदय तो चल ही रहा है, अनेक प्रकार के विघ्न और दोष आया करते हैं, तप और संयम का भी विनाश कर दे ऐसे भी दोष सम्भव हैं पर ये साधुजन उन समस्त दोषों को दूर करने में तीव्र उत्सुक रहा करते हैं। आहार सम्बंध में भी उत्कृष्ट आदिक दोष आते हैं अर्थात्—आहार को करना, कराना, अनुमोदन करना, मन से वचन से काय से उस ओर अभिमुख होना यह उद्दिष्ट कहलाता है, तो साधुजन नवकोटि से विशुद्ध आहार ग्रहण किया करते हैं, तो उसके दोष को भी टालते हैं, और भी अनेक दोष जैसे आहार से पहले दाता की प्रशंसा करना, आहार के बाद दाता की प्रशंसा करना जिससे कि उसको आकर्षण रहे और वह आहार व्यवस्था बनाते रहे। ये समस्त भाव दोष रूप हैं, इन समस्त दोषों को टालने में दृढ़ संकल्पवान हैं, ऐसे ज्ञानी के क्षुधा परीषह आया करते हैं और वे उन पर विजय पाते हैं। क्षुधा परीषह पर विजय प्राप्त करने वाले मुनि, देश, काल, प्राण आदिक की व्यवस्था भली भांति समझते हैं तब ही वे निर्दोष आहार की प्रक्रिया बना पाते हैं, और आहार सम्बन्धी दोषों को टाल पाते हैं, तो ऐसी स्थितियों में मुनि कभी अधिक अनशन का नियम कर लें या बहुत अधिक मार्ग चलने का श्रम हो जाय या कोई ऐसा रोग हो जाय जिसमें क्षुधा विशेष लगा ही करे, या ऊनोदर व्रत ले लिया हो, मतलब किसी भी ऐसी कठिन स्थिति में असाता वेदनीय के तीव्र उदय और उदीर्णा से क्षुधा उत्पन्न हुआ करती है, तो उस क्षुधा का प्रतिकार न तो स्वयं करते हैं और न किसी से कराते हैं। वे मन में यह विचार करते हैं कि मेरे को यह क्षुधा वेदना का भयंकर रोग लगा हुआ है, कैसे इसे सहन किया जाय ? ये इस कारण विषाद को प्राप्त नहीं होते कि चूंकि उनका चित्त ज्ञानानन्द के निधान अंतस्तत्त्व में बना रहता है। चाहे क्षुधा परीषह विजय इन साधु संतों के शरीर में अत्यन्त दुर्बलता आ जाय, हड्डी नशाजाल झलकने लगें अस्थिपंजर मात्र ही रह जाय, ऐसी स्थिति में ये मुनि आवश्यक क्रियाओं को बराबर नियम से किया करते हैं, और अपने धैर्य-रूपी जल से इस क्षुधा रूपी अग्नि का प्रशमन करते हैं। चूंकि इनका ज्ञानबल इतना प्रकृष्ट है, ज्ञानमात्र स्वरूप का उन्होंने बराबर अनुभव किया है इसके कारण ये क्षुधा की भयंकर पीड़ा को कुछ भी नहीं समझते। इस प्रकार क्षुधा परीषह को समता द्वारा विजय प्राप्त करना क्षुधा परिषह विजय है।

संवरहेतुभूत तृषा परीषहजय का वर्णन :—दूसरी परीषह है तृषा परीषह जय। साधुओं को किन्हीं परिस्थितियों में तीव्र प्यास की बाधा आ जाय तो वहाँ भी वे अपने नियम को भंग नहीं करते हैं और तृषा परीषह को समता से सहन करते हैं। मुनिजन स्नान के त्यागी हैं, जल में डूबने के त्यागी हैं। इन पर कोई अभिषेक करे, पानी डालें, उसके भी त्यागी हैं, तो जिनके जल स्नान का त्याग है तो एक प्रसंग तो यही हुआ कुछ प्यास बनने का, फिर पक्षियों की तरह मुनिजनों का निवास है। उनका अनि-यत निवास है। कहाँ ठहरते हैं ? भिन्न-भिन्न जगहों में ठहरते हैं तो फिर भी श्रम प्रतिकूलतायें होती हैं, तो प्यास होने का यह भी कारण बनता है, ये मुनिजन समता से आहार ग्रहण करते हैं चाहे वह खट्टा हो, चिकना हो, रूखा हो, मन के विरूद्ध आहार हो, गर्मी पित्त, ज्वर अनशन आदिक कारणों से जहाँ खूब प्यास बढ़ रही हो, जो प्यास शरीर और इन्द्रिय को मथ देने वाली हो ऐसी भंयकर प्यास को भी वे कुछ नहीं गिनते हैं और न उसके प्रतिकार की अभिलाषा और कोशिश करते हैं। ऐसे मुनिजन तृषा परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं। जेष्ठ की दोपहर हो, सूर्य का तीव्र आताप हो, ऐसी स्थिति में भी

कदाचित वे जंगल में जलाशय के समीप भी पहुँच जायें, वहाँ ध्यान धर रहे या वहीं पास में जलाशय हो तो भी वे उस जल से प्यास बुझाने की इच्छा नहीं रखते, क्योंकि वहाँ जलकायिक जीवों की हिंसा होती है। तो ऐसी हिंसा के सूक्ष्म रूप से जो भी त्यागी हैं वे क्षुधा परीषह पर विजय प्राप्त करें इससे तृषा अंदाज बनाओ कि कितना विशिष्ट ज्ञानबल होता होगा, जिससे ऐसे प्रसंगों में भी वे तृषा परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं। पानी न मिलने से मुर्झायी हुई लता की तरह जिनका शरीर मुरझा गया है वे भी शरीर की परवाह न करके तपश्चरण की मर्यादाओं का पालन करते हैं और ऐसे संयमी साधु धैर्यरूपी कुम्भ के फैलते हुए शील सुगंधित ज्ञान जल से उस तृष्णा रूपी अग्नि की ज्वाला को शान्त कर देते हैं और अपने संयम की साधना में तत्पर रहते हैं। यह है मुनियों का तृषा परीषह जय।

क्षुधा परीषह व तृषा परीषह में अन्तर का दिग्दर्शन :—यहाँ एक बात और ज्ञातव्य है कि क्षुधा में भी कष्ट, प्यास में भी कष्ट और भूख और प्यास दोनों एक ही जगह होते हैं और करीब-करीब प्रायः एक साथ होते हैं, फिर इसको दो परीषहों में क्यों गिना ? एक ही परीषह गिन लेना। तो समाधान यह है कि क्षुधा और तृषा में सामर्थ्य भेद है, भूख और प्यास की सामर्थ्य जुदीजुदी है और दोनों के शान्त करने के साधन भी जुदे-जुदे हैं, इस कारण इनका जुदा-जुदा निर्देश किया गया है। और समझिये क्षुधा परीषह में दो भेद हैं— मंद और तीव्र। किसी की क्षुधा मंद है किसी की तीव्र, पर प्यास के चार भेद हैं—मंदतर, मंद, तीव्र और तीव्रतर। प्यास का विदित होना अत्यन्त मंद प्यास होने पर भी बन जाता है और प्यास की तीव्रतर वेदना, मंदतर वेदना से भी बुरी होती है। ऐसा क्षुधा और तृषा में स्पष्ट अन्तर है। इस कारण परीषह विजय में दोनों का नाम दिया गया है। जिन मुनिजनों का चित्त शरीररहित अमूर्त ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व पर रहता है। और इस तत्त्वदृष्टि के कारण प्रसन्न रहा करते हैं उनको क्षुधा तृषा जैसे परीषह और उपसर्ग सहलेना सुगम बात है जैसे कोई धनी बड़े लाभ के लिए छोटे लाभ का त्याग सुगमता से कर देता है, ऐसे ही ध्यान के इच्छुक मुनिजन इन परीषहों का विजय सुगमता से कर लेते हैं।

संवर की कारणभूत शीत परीषह विजय :—साधुजन बड़ी तेज सर्दी में शीत परीषह विजय करते हैं। ये साधु वस्त्ररहित हैं तब शीतपरीषह का इन पर और विशेष प्रभाव होता है। ये पक्षियों की तरह अनियत निवास वाले हैं। कहीं एक ही जगह रहना हो तो वहाँ शीत से बचने की कोई सुविधा भी बना सकते हैं, पर ये तो अनियत निवास वाले हैं। शरीर मात्र ही आधार है ओट कोई ओर है ही नहीं ऐसे साधु शिशिर ऋतु, बसंत ऋतु और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे ठहरें, मार्ग पर ठहरें, गुफा आदिक स्थानों में ठहरें और वहाँ बरफ भी गिरती हो, तुषारभी पड़ रहा हो और बड़ी प्रचण्ड शीतल मर्मभेदनी वायु भी चल रही हो तो ऐसी स्थिति में शीत का बड़ा प्रकोप होता है, उस समय भी समतापूर्वक शीत परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं। ये साधु शीत ऋतु में तीव्र कंपकपी भी आ जाय तो भी इस ठंड को मिटाने के लिए अग्नि आदिक की अभिलाषा नहीं करते, किन्तु उस समय वे नरक दुस्सह तीव्र शीत वेदना का स्मरण करते हैं कि उसके सामने यह शीत परीषह कुछ भी कष्ट नहीं है और अनेक प्रकार के विवेकमयी चिन्तन से चित्त को समाधान करते हैं। इसमें इतना सामर्थ्य है कि विद्या मंत्र के प्रताप से ये शीत को दूर कर दें पर ऐसा भी नहीं करते। औषधि, पत्ते, बल्कल, तृण, चर्म आदिक की आकांक्षा नहीं करते और देह को पर पदार्थ समझते हैं। ऐसे साधु पुरुष धैर्यरूपी वस्त्र के द्वारा ही विषादरहित होकर संयम का पालन करते हैं। ये साधुजन राजघराने धनी सेठ घराने के भी बहुत होते हैं। जो अपनी

पूर्व अवस्था में श्रीमान और राजा थे, अब निर्ग्रन्थ दिगम्बर हुए हैं लेकिन वे पूर्व में अनुभव किए गए उत्तम घर का, या स्त्री पुत्रादिक का किसी का स्मरण भी नहीं करते। और समतापूर्वक शीत परीषह का विजय करते हैं।

संवर की कारणभूत उष्ण परीषह विजय :—उष्ण परीषह विजय—कैसी भी ज्येष्ठ की दोपहर हो, जिसमें सूर्य का बड़ा कठिन ताप हो, अंगारे की तरह शरीर जल रहा हो और प्यास, अनशन पित्त, रोग, घाम, परिश्रम आदिक के कारण असह्य गर्मी भी पड़ रही हो, उस गर्मी की वेदना से पसीना टपक रहा हो, ओठ सूख रहे हों, जलन हो रही हो, ऐसी पीड़ा भी हो रही हो जिस पर ये भेद विज्ञानी साधु संतजन न तो जल मंगाने की इच्छा करते हैं न जल में प्रवेश की इच्छा करते हैं, न कोई ठंडी चीज का लेप कराने की इच्छा करते, न कमल पत्र, केले का पत्र या ठंडी वायु जो पदार्थ दाह को मेटते हैं और शीतलता उत्पन्न करते हैं उन पदार्थों के उपचार की ओर उनकी दृष्टि नहीं होती। चन्द्रकिरणें कोमल मुक्ताहार ऐसे बड़े-बड़े उपचार पूर्व गृहस्थी के समय में किए गए हों तो भी उनका अनुभव वे नहीं करते, उनके प्रति तिरस्कार का ही भाव रखते, ऐसे साधुजन इतनी भयंकर गर्मी में यह ही विचार करते हैं कि हे आत्मन्! तूने बहुत बार नरकों में जा जाकर अत्यन्त दुस्सह उष्ण वेदनायें सही हैं, अब यहाँ जो उत्पन्न हो रहा है यह तो तेरे कर्मों के क्षय का साधन है, इसे तू अपने स्वतन्त्र भावों से तप, ऐसा पवित्र विचार करके साधुजन उस उष्णता की पीड़ा का प्रतिकार नहीं चाहते। और अपने आत्मा-नुभव के साधक संयम की रक्षा करते रहते हैं।

संवर की कारणभूत दंशमशक परीषह विजय :—दंशमशक परीषह जय—ये साधुजन कैसे ही स्थान पर पहुँचे हों और वहाँ मच्छर आदिक का प्रकोप हो तो भी उस परीषह में धैर्य रखते हैं और उस पर विजय प्राप्त करते हैं। ये साधु दिगम्बर हैं। उनके शरीर पर किसी भी प्रकार का आच्छादन नहीं है। वहाँ मच्छरों का काटना तो बहुत ही सुगम है। वे निजी बनायी हुई कुटी में नहीं रहते कि उस पर जाली आदिक लगाकर साधन ठीक बना लिए जायें वे तो दूसरों के द्वारा बनाये गए क्षीण आवास में रहते हैं, पर्वतों की गुफा आदिक में रहते हैं तो ऐसे साधुवों को रात्रि में और दिन में भी डांस मच्छर काटें, मक्खी, बिच्छू, कीड़ी, जुएं, खटमल आदिक काटें, तो ऐसे काटे जाने पर भी वे साधु अधीर नहीं होते। और अपने भेद विज्ञान के बल से अंतस्तत्त्व की दृष्टि करके अन्तः सन्तुष्ट रहते हैं। वे उसे कर्म-फल मानकर मणिमन्त्र, तन्त्र, औषधि आदिक से उसके प्रतिकार की इच्छा नहीं करते। और वे कर्मशत्रु की सेना के विजय के लिए ही तैयार रहते हैं। ऐसे साधुजन समता के धनी डंसमसक परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं। इस डंस मसक परीषह में जो डंस शब्द दिया है वह सभी डसने वाले जन्तुवों के ग्रहण करने के लिए दिया है। जैसे दही के संरक्षण के लिए कोई दूसरे से यह कहे कि देखना भाई इस दही को कौवे न खा जायें, तो क्या कोई कुत्ता, बिल्ली वगैराह खाने को आ जाय तो वह खा लेने देगा? अरे वह तो उपलक्षण शब्द है, भले ही केवल कौवे की बात कहा, पर भाव उसका यह है कि दही को खाने वाला कोई भी प्राणी उस दही को न खा जाय, सो डंसमसक शब्द दिया है, पर अर्थ उसका यह है कि शरीर को डसने वाले डाँस मच्छर की तरह पक्षी, मक्खी तंतैया आदिक कोई भी प्राणी हों तो उनसे उत्पन्न हुए परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं। ये साधुजन चारित्र को प्रकट किया करते हैं।

संवर की कारणभूत नाग्न्य परीषह विजय :—नग्नता परिषय जय जो चारित्र मोक्ष का साधनभूत है, मोक्ष हो परिपूर्ण ब्रह्मचर्य है। वह परिग्रह की निवृत्ति से बढ़ता है और गुप्ति समिति का

यह समस्त अविरोधी चारित्र को पुष्ट करने वाला है। जैसे बालक उत्पन्न हुआ ऐसी नग्नता इस चारित्र का मूर्तिमान रूप है, अविकारी है, संसार से रहित है, स्वाभाविक है। यद्यपि मिथ्या दृष्टियों द्वारा इस निर्ग्रन्थ भेष पर द्वेष प्रकट किया गया है, किन्तु यह तो परम मंगलरूप है। इस नग्नता को धारण करने वाले साधुजन स्त्रीरूप को अशुचि निरखते हैं, वीभत्स भयानक देखते हैं, मुर्दा की तरह **'कंकाल'** जैसा देखते हैं, ये पुरूष सदा वैराग्य भावना से मन के विकार को जीतते हैं, ऐसा जो यह नग्नता का परीषह है उस पर साधुजन बड़ी प्रसन्नता से विजय प्राप्त करते हैं। दूसरे लोगों की दृष्टि में नग्नता एक घृणा का रूप बनता है। वे अपमान करते हैं तो भी उसका ध्यान नहीं धरते और अपना ब्रह्मचर्य पुष्ट करने के लिए परिग्रह त्याग इनमें ठीक बनता है। वे प्रसन्नता से नग्नता का परिषह विजय करते हैं। यह यथारकात रूप मोक्ष प्राप्ति का कारण है। अन्य तापसीजन मन के विकार को नहीं रोक सकते तो अपने लिङ्ग को ढकने के लिए चीवर आदिक आवरण को लेते हैं, वल्कल भी लेते हैं, कोई टाट लपेटते हैं, क्योंकि उनके मन में विकार है, उस विकार को रोकने में समर्थ नहीं है, और जब विकार होते हैं तब अंगों में भी विकार होने लगता है, उससे लज्जित होकर अन्य तापसी जन साधु का नाम धराकर भी अपने गुप्त लिङ्ग को वल्कल से, टाट, पत्थर आदिक से ढकते हैं, सो वे तापसीजन अंगों का ही तो सम्वर करते हैं कर्म का सम्वरण नहीं कर सकते।

संवर की कारणभूत अति परीषह विजय :—अति परीषह विजय—ऐसे ऐसे प्रसंग आये साधुजनों से कि जिनमें द्वेष-भाव अप्रीतिभाव, भीतर ग्लानि का भाव आये तो भी उन परिस्थितियों में वे अरति का भाव नहीं लाते। जैसे कभी बड़े तपश्चरणों के कारण क्षुधा आदिक की बाधा हो जाय तो उस समय धैर्य नष्ट हो सकता है। इन्द्रियाँ बड़ी दुर्जेय हैं, इन विषयों का रोकना बड़े ज्ञानबल से साध्य है फिर भी हर परिस्थिति में वे इन्द्रियों पर विजय रखते हैं। व्रतों का सही पालन करते हैं, संयम की रक्षा करते हैं। अपने आप गौरव से अपनी सही दृष्टि बनाते हैं। किसी भी समय वे अपने आप में अरतिभाव उत्पन्न करते। अनेक देशों में उनका विहार होता है। सभी देशों की भाषा समझने में नहीं आती है, ऐसे मौकों पर चित्त में ग्लानि आना, दुःख सा होना सम्भव है, पर जिन्होंने केवल अंतस्तत्त्व की ही दृष्टि बनाया है उनके लिए कुछ भी बाधायें नहीं आतीं। साधुजन बड़े चंचल जन्तुओं से व्याप्त भयंकर कठोर गहन वन में रहते हैं, सकल विहारी भी रहते हैं और इस कारण से उनको संयम में प्रीति न रहे। उनका धैर्य नष्ट हो जाय, ऐसे भी प्रसंग आते हैं, किन्तु उनसे वे प्रभावित नहीं होते। और अरति परीषह पर वे विजय प्राप्त करते हैं। वे साधु पुरुष संयम विषयक प्रीति में रहा करते हैं और विषय सुख की प्रीति को विष के आहार की तरह समझते हैं। ऐसे इस परम संयमी धीर वीर पुरूषों के अरति परीषह जय होता है। फिर पृथक कहने की जरूरत क्या थी ? फिर भी यहाँ यह विशेषता बताने के लिए अरति परीषह का नाम दिया है कि ये साधुजन तृषा आदिक परीषहों के न होने पर भी मोह के उदय से जो अरति की प्रवृत्ति हुआ करती है, मोह के उदय के कारण चित्त आकुलित होने से जो इसको संयम में अरति उत्पन्न हो सकती है उस अरति पर विजय प्राप्त करते हैं।

संवर की कारणभूत स्त्री परीषह विजय —स्त्री परीषह विजय—ये साधुपुरूष एकान्त स्थान में रहते हैं। बगीचा छोड़े हुए आवास आदिक पर्वतों में रहते हैं और वहाँ पर किसी कारण से स्त्रीबाधा का प्रसंग आये राग-द्वेषवश जवानी के मद के कारण रूप, मद, उन्माद आदिक कारणों से कोई स्त्रीबाधा उत्पन्न हो तो भी उनके नेत्र विकार आदिक कुछ भी विकार नहीं होते, नहीं तो कामवासना के प्रसंग

भौंहें चलाना, शृंगार बनाना, हाव-भाव विलास करना आदिक बातें स्त्रीजन किया करती हैं। हँसना, कटाक्ष करना, और शरीर के सुकुमाल, चिकने अंगों को देखना, क्षीण उदर होना, जंघा रूप, आभूषण, गंध, वस्त्र, माला आदिक भी जिनको देखने में आये तो भी उनको देखकर साधुजनों के चित्त में कामविकार नहीं होता और उनके प्रति विग्रह का ही भाव रहता है। साधुजन तो उन स्त्रीजनों के दर्शन स्पर्शन आदिक इच्छाओं से पूर्ण रहित हैं। ये स्निग्ध, मृदु, शब्द, तंत्र, तंत्री, वीणा आदिक के मधुर गानों के सुनने से विरक्त हैं। वे विचार करते हैं कि स्त्री प्रसंग के अनर्थ बहुत बुरे होते हैं। यह संसार-रूपी समुद्र के बड़े भयंकर भवरों में गिरा देते हैं, ऐसे परम विवेकी साधुजनों के स्त्री परीषह विजय होती है। भले ही बड़े देव और ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध अनेक जिनशासन से वहिर्मुख लोगों ने अप्सराओं के रूप को देखकर विकार से मलिनता पायी थी, वे स्त्री परीषह रूप कीचड़ से ऊपर न उठ सकते थे, पर निर्ग्रन्थ मुद्राधारी साधु स्त्री परीषह पर पूर्णतया विजय प्राप्त करते हैं।

संवर की कारणभूत चर्या परीषह विजय :—चर्या परीषह विजय—चर्या अर्थात् गमन करते में दोष न आने देना और अपने आत्मसंयम की रक्षा बनाये रहना चर्या विजय कहलाती है। जिन साधुवों ने बहुत लम्बे समय तक गुरुकुल में ब्रह्मचर्यवास किया था, जो बंध मोक्ष तत्त्व के बड़े मर्मज्ञ हैं, कषायों के नष्ट करने में तत्पर हैं, सही आत्मभावना से जिनका चित्त भरा हुआ है, ऐसे वे साधु शिष्य जब गुरु की आज्ञापूर्वक आहार के लिए जायें, विहार के लिए जायें तो उस चलने के प्रसंग में मार्ग में बड़े कठोर, कंकड़, कंटक आदिक से पैर कट जायें, छिल जायें, तिस पर भी ये साधुजन खोंटा अनुभव नहीं करते, यह ही है उनका चर्या परीषह विजय। अनेक देशों के व्यवहार के ज्ञाता साधु जानते हैं कि छोटे गाँवों में एक रात ठहरने का नियम है, बड़े नगरों में ५ रात तक ठहरने का नियम है। वे इतना ही ठहरते हैं और आगे वायु की तरह निसंग होकर गमन कर जाते हैं तो जिनका राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए विहार करने का काम है वे भयंकर जंगल आदिक में सिंह की तरह निर्भय होकर दूसरे की सहायता की अपेक्षा न करके अपनी चर्या में सावधान रहते हैं।

संवर की कारणभूत निषद्यापरीषह विजय :—निषद्या परीषह जय—निषद्या कहते हैं बैठने को। साधुजन जो संयम की विधि जानने वाले हैं, जिनमें अद्भुत धैर्य है, जो मोक्षमार्ग के उत्साह से सम्पन्न हैं वे श्मशान, उद्यान, पर्वत, गुफा, आदिक नये-नये स्थानों में जिस आसन से बैठते हैं, बैठे रहे, उसी आसन से और कोई उपसर्ग या रोग विकार आया, उस आसन से विचलित न हुए और न मन्त्र विद्या आदिक से उपसर्ग आदिक का प्रतिकार ही करना चाहते हैं, अनेक विषम देशों में इनका विहार होता है। जहाँ छोटे बड़े जन्तु हों काठ या पत्थर के, पर आसन जमीन होवहाँ कितना ही कष्ट होता हो, लेकिन बहुत बड़े कोमल शैय्या पर बैठा करते थे, उनका स्मरण तक भी न करते थे, अब तो उनके प्राणिहिंसा नहीं होती है, पर विशेष ध्यान है। ज्ञान ध्यान भावना से उनका चित्त भरा हुआ रहता है, पर अधिक ध्यान है सो ये पद्मासन, वीरासन, सुखासन आदि किसी भी आसन से बैठते हैं उस आसन को निर्दोष रूप से बाँधते हैं और वहाँ आसन का कोई दोष नहीं लगता। ऐसे आसनों के दोष को जीतना निषद्या परीषह जय है।

संवर की कारणभूत शय्या परीषह जय :—शय्या परीषह जय—जब साधुजन को स्वाध्याय के कार्य से शरीर में खिन्नता आ जाती है। ध्यान से मार्ग में चलने के श्रम से शरीर में खेद आता है तो वे साधु किसी भी धूल पर, रेत पर, कंकरीली पथरीली जमीन पर एक मुहूर्त तक एक करवट से काय

को निश्चल रखते हुए सोते हैं। संयमरक्षा का इतना भाव है इसलिए उस समय वे किसी भी अंश को नहीं हिलाते हैं और निश्चल रहते हैं। कभी व्यन्तर आदिक की बाधा हो तो उससे डरकर भागने की या उसके प्रतिकार की इच्छा नहीं रखते, और जहाँ के तहाँ निश्चल काय से लेटे रहते हैं। इन साधु-जनों का मरण का भय नहीं है अतएव वे निसंग मृतक की तरह निश्चल पड़े रहते हैं। इन साधुजनों के चित्त में ऐसी शंका नहीं होती कि यह प्रदेश सिंह व्याघ्र साँप आदिक दुष्ट जन्तुओं से भरा है। यहाँ से हमको जल्दी भाग जाना चाहिए। न जाने कब रात पूरी होगी ? ऐसा संकल्प विकल्प भी नहीं करते और कदाचित कभी आराम की जगह मिल जाय, वहाँ सोयें तो वहाँ कहीं हर्ष से उन्मत्त नहीं हो जाते कि आज तो बहुत मौज आया है। ये साधुजन बहुत अनुभव किए गये कोमल शय्या का स्मरण तक भी नहीं करते, और जो शास्त्र विधि में बताया गया है उस प्रकार से ये शयन करते हैं और शयन सम्बन्धी दोष नहीं लगते। ऐसा शय्या परीषह पर विजय करना शय्या परीषह जय है।

संवर की कारणभूत आक्रोश परीषह विजय :—आक्रोश परीषह जय—इन साधुजनों को कोई गाली दे, कोई मिथ्या दृष्टि जीव मोह से भरे हुए दुष्ट मायाचारी, उत्मत्त, पागल, संकिट आदिक दुष्टों के द्वारा कठोर गाली भी दी जायें। उन्हें कोई हृदयभेदी बात बोल दी जाय, क्रोध की अग्नि को बढ़ा दें, धिक्कार और गाली के शब्द ऐसे वचनों को सुनकर भी जिनका चित्त अस्थिर नहीं होता वे वे जानते हैं कि अज्ञानीजन अपनी कषाय में पड़े हुए हैं और कषाय के कारण ऐसी प्रवृत्ति करते हैं, उन्हें वे क्षमा कर देते हैं। इन साधुजनों में ऐसा आत्मबल प्रकट है जिनके कारण अनेक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। चाहे तो आँख से देखकर ही दूसरों को भस्म कर दें, ऐसी शक्ति होती तो भी वे साधुजन क्षमाशील रहते हैं। जो भी उनके प्रति कड़वे, कठोर वचन बोले जाते हैं उनके अर्थ पर विचार भी नहीं रखते और भीतर चिन्तन चलता है कि मेरा पूर्वकृत अशुभ कर्म का उदय ऐसा ही है जिससे मेरे प्रति इन लोगों को द्वेष हो गया है, ऐसी पवित्र भावनाओं से भरे हुए साधुजन को दूसरों के अनिष्ट वचन सुनकर भी उनके चित्त में खेद नहीं होता। वे जानते हैं कि यह जीव स्वरूप में तो अविकार है इस जीवस्वरूप का कोई विरोधी नहीं है, पर अनादिसिद्ध इस जीव पर ऐसा ही कर्मविपाक का उदय छाया है जिससे इसकी ऐसी वृत्ति बनी है। अब यह अज्ञानी बन गया है। तो जो अज्ञानी है उसके वचनों का क्या बुरा मानना ? जैसे कोई बालक के वचनों का बुरा नहीं मानता ऐसे ही दूसरों के द्वारा दी गई गाली को सुनकर वे अधीर नहीं होते और अपनी आत्मभावना में निरन्तर सावधान रहते हैं। यह है आक्रोश परीषह विजय।

संवरको कारणभूत बधपरीषह विजय—कोई पुरुष. पूर्व शत्रुता के कारण अथवा किसी कारण से द्वेष भर जाने के कारण क्रोधपूर्वक मुनिराज का ताड़न करे, आकर्षण करे, बंधन करे, शस्त्र से अविघात करे, इतने पर भी उस आक्रामक के प्रति बैरभाव न होना बल्कि क्षमा रूपी अमृत से उस मारने वाले में मित्रता का भाव करना बधपरीषहजय है। साधुजन विहार करते रहते हैं। किसी गाँव में, बगीचे में, जंगल में, शहर में कहीं भी विराजे हों रात अथवा दिन एकाकी निरावरण देखकर कोई चोर अथवा कोतवाल या म्लेच्छ भील वगैरह उसका ताड़न करे ऐसे अनेक मौके मिलते हैं, उन सब अवसरों में समतापरिणाम रखना बधपरीषहजय है। जिस समय कोई साधुको सताता है, ताड़ता है उस समय वह यह विचार करता है कि यह शरीर अवश्य ही नष्ट होने वाला है, यह तो कुशलता है कि हमारे व्रत शील भावना आदिक नष्ट नहीं हुए, केवल शरीर ही नष्ट हो रहा है, अतएव मेरा यहाँ क्या बिगाड़ है ? अपने ज्ञानानन्द परिपूर्ण अंतस्तत्व में ही निवास करूँ वही मेरा काम है, वही मेरा नाता है

और व्यवहार में हमारा धर्म यह ही है कि जलाने पर भी जैसे चन्दन सुवास फैलाता है ऐसे ही ताड़ित किए जाने पर भी हमारा धर्म है कि हम उसको प्रेम मित्रता का ही अनुराग करें। और समतापूर्वक यह सहन किया जायगा तो उससे कर्मों की निर्जरा ही हो रही है, वह तो भले के लिए हो रहा है। ऐसा चिन्तवन करके बध करने वाले पुरुष पर द्वेष न जगना और समता से परीषह सहना बधपरीषहजय है।

संवर की कारणभूत याचना परीषह विजय—कैसी ही विषम स्थिति मुनिराज पर आ जाय तब भी वे किसी आवश्यक वस्तु की याचना नहीं करते, यह ही उनका याचना परीषहजय है। ऐसे क्षुधा अनशन आदिक के कारण तीव्र लग रही हो, मार्गका बड़ा श्रम कर लिया गया हो अथवा तपविशेष किया गया हो या रोग आदिक हो गया हो तो इन कारणों से साधुवों के अंग ऐसे सूख जाते हैं जैसे कि सूखा रूख होता है। इन साधुवों के तपश्चरण आदिक के कारण इतना सूखा हुआ शरीर है कि हाड़ और नसें ऊपर नीचे हो रही हैं। आँखें धस गई हैं, ओंठ सूख गए हैं, सारे शरीर की चमड़ी सिकुड़ गई है। जाँघ पैर आदिक अवयव अत्यन्त शिथिल हो गए हैं, ऐसे हैं वे परम स्वाभिमानी मुनिराज। इतनी विषम परिस्थिति में भी वे इन सब दुर्बलतावों का प्रतिकार नहीं चाहते। आगम में कही गई विधि से भिक्षा लेने वाले, मौन व्रत से रहने वाले साधु के शरीर में परमक्षीणता होने पर भी और प्राण जाने का समय आने पर भी कभी दीनता पूर्वक आहार बसति औषधि आदिक की याचना नहीं करते। यह ही उनका याचना परीषहजय है। ये मुनिराज भिक्षा के समय केवल अपने को एक दिखाते भर हैं, पर मुख पर कभी भी कोई उदासी नहीं आती। वे हीन वचनों का प्रयोग नहीं करते। किसी प्रकार से भी याचना का संकेत साधुजन नहीं करते। जैसे कोई जौहरी मणि दिखाता है उसी प्रकार ये मुनिजन अपना शरीर दिखा देते हैं भिक्षा चर्या के समय, इतना ही पर्याप्त समझते हैं। मुनिराज के याचना के लिए हाथ नहीं फैलाते। केवल बंदना करने वालों को आशीर्वाद देने के समय ही उनके हाथ फैलते हैं, ऐसा जिनका अद्भुत पराक्रम है, प्रज्ञा से जिनका संतुष्ट मन है, ऐसे साधुजन किसी भी परिस्थिति में किसी वस्तु की याचना नहीं करते।

संवर की कारणभूत अलाभपरीषह विजय—भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए अनेक दिन भी भ्रमण करते रहें फिर भी निरन्तराय भिक्षा न मिले तो उस पर भी वे चित्त में उद्विग्न नहीं होते, इस ही कारण उस ग्राम को छोड़कर अन्य ग्राम जाने की आकांक्षा नहीं करते। सो ऐसे अलाभ के समय चित्त में रंच मात्र संक्लेश न होना अलाभविजय है। अलाभविजय की पात्रता उन साधुवों में है जो वायु की तरह अनेक देशों में विहार कर रहे हैं। अपनी शक्ति का प्रकाश नहीं करते। एक बार जिनके आहार की प्रक्रिया है। मुझे आहार दो ऐसे दीन वचन जिनके मुख से कभी नहीं निकलते। केवल अपने शरीर के दर्शन मात्र से संकेत बन ही जाता है कि ये गोचरी के लिए निकले हैं, ये मुनिराज शरीर से सर्वथा उदासीन हैं। किसी भी आहार आदिक के विषय में यह आज भोगा है यह कल भोगेंगे आदिक संकल्प नहीं रहता। हाथ में ही आहार लेते हैं। याने जो करपात्री हैं, संतोषी हैं, ऐसे साधुवों को भी बहुत दिनों तक अनेक घरों में घूमने पर भी निरन्तराय भिक्षा न मिले तो उस पर उनके संक्लेश नहीं होता। यह ही अलाभ परीषह विजय है। ये मुनिराज यह नहीं सोचते और न कहते हैं कि यहाँ दाता नहीं है वहाँ बड़े बड़े दानी दाता थे आदिक कुछ भी आहार विषयक चर्चा नहीं करते। वे सदा लाभ से अलाभ को ही उत्कृष्ट तप समझते हैं स्वावलम्बी जीवन बनने के कारण।

संवर की कारणभूत रोगपरीषह विजय—यह शरीर बात, पित्त, कफ और सन्निपातजन्य अनेक रोगों और वेदनाओं से घिरा है। अनेक दुःखों का कारणभूत है एवं अपवित्र है। यह शरीर जीर्ण वस्त्र की तरह अवश्य ही छोड़ने योग्य है। ऐसा जानने वाला यह साधु अपने शरीर में परशरीर की तरह उपेक्षा धारण कर सर्व प्रकार की चिकित्सावों से अपना चित्त हटा लेता है। ये मुनिराज अपने शरीर में पर शरीर की तरह उपेक्षा धारण किए हुए ही होते हैं। समस्त प्रकार की चिकित्सावों से चित्त को हटाये हुए होते हैं। हाँ शरीर मात्रा के लिए विधिवत आहार ग्रहण करते हैं और ऐसे साधुजनों के जल औषधि आदिक अनेक औषधि ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं तिस पर भी शरीर से निस्पृह रहकर पूर्वकृत पाप का यह फल है इसे भोगकर ऋण हो जाना ही चाहिए, ऐसे विचार के कारण रोग का प्रतिकार न कर उसे समता पूर्वक सहन कर लेते हैं। यह ही है रोग परीषहजय।

तृणस्पर्शपरीषहजय—साधुजन किसी प्रकार के श्रम को दूर करने के लिए कभी शयन करते, कहीं बैठ जाते, आसन लगाते, तो ऐसे साधुजनों को कोई तृण आदिक के चुभने से बाधा हो जाय या खुजली आदिक के जलने से दुःख हो जाय तो उसे दुःख न मानना और निश्चल रहना यह ही तृणस्पर्शपरीषहजय है। इन साधुवों का शयन और आसन प्राकृतिक स्थान पर होता है। जहाँ सूखे तृण पड़े हों, पत्ते पड़े हों, भूमि पर ही वे बैठते हैं, शयन करते हैं, वहाँ काँटे हों और उनके कोई चुभने की बाधा हो तिस पर भी वे मन में आकुलित नहीं होते। जिनकी मात्र आत्मा के अंतस्तत्व पर ही उपयोग जमा हुआ है वे पुरुष बाहरी बाधावों को बाधा नहीं समझते और इसी कारण ठंढ गर्मी आदिक के कारण कोई श्रम हुआ हो, उसे दूर करने के लिए शय्यासन ग्रहण तो करते हैं पर उनसे व्याकुल नहीं होते हैं यह है दिगम्बर साधुवों का तृणपरीषहजय।

संवर की कारणभूत मलपरीषह विजय—साधुजन स्नान नहीं करते, ऐसा उनका व्रत है, इस व्रत का कारण है कि जीव जंतुवों की हिंसा का परित्याग रहना। सो एतदर्थ स्नान का व्रत है अर्थात् वे स्नान नहीं करते। उन परम अहिंसक मुनिजनों को पसीने के मल से समस्त अंगों के जल जाने पर दाद खाज आदिक चर्म रोग का प्रकोप होने पर नख, रोम, मूछ आदिक में अनेक बाह्यमलों का सम्बन्ध हो जाने से कोई चर्मविकार होने पर स्वयं उस मल को हटाने की या दूसरों के द्वारा हटवाये जाने की रंच भी इच्छा नहीं करते और सदा कर्ममल को हटाने की भावना बनाये रहते हैं। उन निर्ग्रन्थ दिगम्बरों का मल परीषहविजय नामका यह परीषह है। ये साधु यह स्मरण नहीं करते कि मैंने पहले की स्थिति में बहुत स्नान किया, लेपन किया, और न अपने देह सम्बन्धी मलिनता से हीनता का ही अनुभव करते हैं। तभी ये केशलुञ्च करते हैं, केशों का कभी संस्कार नहीं करते। उससे भी कुछ खेद होता है, पर मलपरीषहविजय के अधिकारी साधुजन कैसी भी प्रक्रिया में खेद नहीं करते, यह है मल-परीषहविजय। सो यह खेद भी मलपरीषह में ही अन्तर्भूत है। सो केशलुञ्चन कृत खेद को मलपरीषह-विजय से अलग नहीं कहा गया है।

संवरकी कारणभूत सत्कार पुरस्कार परीषहजय—जो मुनि चिरकाल से ब्रह्मचर्य का धारण करने वाले हैं, महान तपस्वी है, स्वसमय और परसमय का निश्चय द्वारा जिन्होंने कुछ विवेचन पाया है, हित का उपदेश करने वाला है, कथा मार्ग में कुशल है, अर्थात् कथा द्वारा जनता को उपदेश करे तो उसमें जिसकी रंच भी चूक नहीं है, ऐसे शास्त्रार्थ में जिन्होंने विजय प्राप्त की है ऐसे पुरुष भी मुझे कोई प्रणाम भक्ति आदर नहीं देता, आसन प्रदान नहीं करता, ऐसी दुर्भावना मुनिराज के मन में नहीं आती। और, भी मान अपमान में समान चित्त रखकर सत्कार पुरस्कार की आकांक्षा नहीं करते। मात्र मोक्ष

मार्ग का ही विचार करते, यह ही उनका सत्कार परीषह विजय है। पूजा प्रशंसा आदिक होना सत्कार है और स्थान देना, आमंत्रण देना आदिक पुरस्कार है। सत्कार में तो वचनों की मुख्यता है। और पुरस्कार में उनको आगे स्थान देने की मुख्यता है।

संवर की कारणभूत प्रज्ञा परीषह जय :—मैं प्रज्ञा में निपुण हूँ, अंग पूर्ण प्रकीर्णक आदिक पूर्व का ज्ञाता हूँ, मैं भूत, वर्तमान, भविष्यत अर्थ को जानने वाला हूँ, शब्द शास्त्र में, न्याय शास्त्र में, अध्यात्मशास्त्र में मैं निपुण हूँ' मेरे सामने अन्य वादी ऐसा निस्तेज हैं जैसे सूर्य के सामने पटबीजना निस्तेज हो जाती है। इस प्रकार का ज्ञानमद पाकर प्रज्ञा ज्ञानगुण होने पर भी उनका कुमार्ग में न पहुँचने का जो पौरुष है वह प्रज्ञा परीषह जय है।

संवर की कारणभूत अज्ञान परीषह जय :—जिन मुनियों के अनेक पौरुष करने पर भी अध्ययन और अर्थग्रहण में बहुत कुछ प्रयोग करने पर भी ज्ञान प्रकट नहीं हुआ। अज्ञान ही रहा। तो तो ऐसी स्थिति में परीषह पर विजय करना अज्ञान परीषह जय है। कोई लोग मुनि को अज्ञ कहते हैं, पशुसम कहते हैं आदिक आक्षेप वचन बोलते हैं लेकिन वे मुनिराज उन वचनों को शान्ति से सहन करते हैं और कभी अपने चित्त में यह हीनभावना नहीं आने देते कि ऐसे परीषहों को सहकर भी आज तक ज्ञानातिशय नहीं हुआ, और ये मुनिराज जिन्होंने मौलिक. प्रकाश पा लिया है वे अपने में अज्ञानभाव से हीनभावना नहीं होने देते। तो कभी अज्ञपने की भी स्थिति प्राप्त हो तो उसमें भी दुःखी न होना यह अज्ञान परीषह जय है।

संवर को कारणभूत अदर्शन परीषह जय :—बड़े-बड़े व्रत तप आदिक करने पर भी कोई ज्ञानातिशय मुझे उत्पन्न न हुआ ऐसे विचार द्वारा चित्त में अश्रद्धा उत्पन्न न होने देना और अपने सम्यक्त्वभाव को दृढ़ता से पालना अदर्शन परीषह जय है। ये साधुजन संयम प्रधानी हैं। बड़े दुष्कर तप तपने वाले हैं। वैराग्य भावना से इनका हृदय शुद्ध हुआ है। समस्त तत्त्वों के वेदी हैं, शुद्ध धर्म की पूजा करने वाले हैं और चिर काल से दीक्षा लिए हुए हैं उनके आज तक भी कोई ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हो तो भी वे ऐसा ध्यान नहीं धरते कि आगम में जो लिखा है कि महान उपवास करने से अतिशय होता है यह सब झूठ है, यह दीक्षा व्यर्थ है, व्रत पालन निरर्थक है, ऐसी चित्त में अश्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देते और अपने सम्यग्दर्शन को दृढ़ता से अनुभवते हैं यह है अदर्शन परीषह जय। अदर्शन परीषह में जो दर्शन शब्द दिया है सो यद्यपि दर्शन शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) श्रद्धान और (२) आलोचन आलोचन के मायने सामान्य प्रतिभास, किन्तु यहाँ पर श्रद्धानरूप दर्शन का ग्रहण है। आलोचनरूप दर्शन श्रुत और मनः पर्यय ज्ञानों में नहीं होता और श्रद्धान पाँचों ज्ञानों के साथ चलता है, इस कारण जो पाँचों ज्ञानों के साथ चले उस श्रद्धान का यह ग्रहण है कि अपना श्रद्धान न बिगड़ने देना अदर्शन परीषह है, क्योंकि श्रद्धान न बिगड़ने की सम्भावना ज्ञानातिशय न होने पर हो रही है। तो इस अदर्शन परीषह में ज्ञानातिशय से सम्बन्ध श्रद्धान का है याने ज्ञानातिशय न होने पर भी श्रद्धान न बिगड़ने देने का यहाँ प्रयोजन है इसलिए दर्शन का अर्थ आलोचन नहीं है। फिर दूसरी बात यह है कि जब आगे बताया जायगा कि कौन सी परीषह किस कर्म के उदय से होती है, तो वहाँ यह कहा जायगा कि अदर्शन परीषह दर्शन मोह के उदय से होता है, इस कारण दर्शन का अर्थ श्रद्धान करना। केवल कल्पना से कही हुई यह बात नहीं है, किन्तु वास्तविकता ही यह है। यद्यपि अवधिदर्शन आदिक नहीं उत्पन्न हुए, वहाँ पर भी वे गुण प्रकट नहीं हुए, ऐसा परीषह माना जा सकता है, किन्तु आलोचन वाली बात चूंकि ज्ञानों के साथ

साथ रहती है अतः अज्ञान परीषह में इसका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे कि सूर्य के प्रकाश के अभाव में प्रताप नहीं होता ऐसे ही अवधिज्ञान के अभाव में अवधिदर्शन नहीं होता, इसलिए आलोचन अर्थ वाला दर्शन अज्ञान परीषह में अन्तर्भूत होगा। यहाँ श्रद्धान का ही ग्रहण करना है। इस प्रकार ये २२ परीषहों पर मुनिराज विजय प्राप्त करते हैं और कर्मों का सम्वर करते हैं।

सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश। ९—१०॥

दसवें, ग्यारहवें व बारहवें गुणस्थान में मोहकृत परीषहों की संभवता न होने पर शेष चौदह परीषहों की सम्भवता :—इन २२ परीषहों में मोहनीय सम्बन्धी ८ परीषह हैं, शेष अन्य कर्म सम्बंधित हैं। सो सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में एवं ११ वें १२ वें गुणस्थान में १४ परीषह होते हैं। मोहनीय सम्बन्धी ८ परीषह नहीं होते। यद्यपि सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ संज्वलन का उदय है सो जिज्ञासा हो सकती है कि मोहनीय सम्बन्धी परीषह वहाँ क्यों नहीं होते, लेकिन वह संज्वलन लोभ का उदय अत्यन्त सूक्ष्म है और वह कार्यकारी नहीं है। केवल सद्भाव ही है। सो जैसे ११ वें १२वें गुणस्थान में १४ ही परीषह होते हैं इसी प्रकार १० वें गुणस्थान में भी १४ ही परीषह होंगे। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि जिस जीव के क्षुधा की सम्भावना होती है उसी को उसे जीतने के कारण क्षुधा परीषहविजय कहा जाता है, किन्तु ११ वें १२ वें गुणस्थान में मोह का उपशम और क्षय है तथा वे १० वें गुणस्थान में मोह का अतीव मंद उदय है। तो मोहोदयरूप निमित्त जब वहाँ नहीं है तो वेदना ही नहीं हो सकती। जब क्षुधा सम्बन्धी वेदना नहीं है तो उन परीषहों की सम्भावना ही नहीं हो सकती। तो जब वे परीषह ही सम्भव नहीं तो उनका जय और अभाव कैसे ? विजय तो उस पर की जाती है कि जो हो पर इस गुणस्थान में क्षुधा की वेदना ही नहीं है, फिर विजय का क्या प्रश्न रहा ? समाधान—वीतराग छद्मस्थ के भी अर्थात् ११वें १२वें गुणस्थान में भी चूंकि वेदनीय का उदय है इस कारण से परीषह का वहाँ व्यपदेश है। जैसे कि सर्वार्थसिद्धि के देवों के उत्कृष्ट साताका उदय है इस कारण उन्हें कहीं भ्रमण नहीं करना पड़ता, फिर भी ७वें नरक तक गमन कर सकते हैं, ऐसी जो सामर्थ्य है उस सामर्थ्य की हानि तो नहीं कही जा सकती। सर्वार्थसिद्धि के देव सब देवों से अधिक गमन कर सकते, पर गमन कहीं करते ही नहीं हैं। तो जैसे साता वेदनीयका उदय होने से कहीं गमन नहीं करते फिर भी गमन करने के सामर्थ्य का अभाव नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही इस १०वें ११वें १२वें गुणस्थान में क्षुधा आदिक परीषहों का अभाव नहीं कहा जा सकता।

एकादश जिने—९—११॥

अर्हन्त प्रभु के ग्यारह परीषहों की उपचारता अथवा असंभावना—जिन भक्ति में ११ परीषह हैं, ऐसा क्यों मानते हैं, इतना वाक्य और लगा लेना चाहिए। इसमें यह अर्थ ध्वनित होता कि उस प्रकार का कर्मोदय पहले रहता था जिसमें ये परीषह हुआ करते थे, उन कर्मों का यहाँ सद्भाव है। जिनेन्द्र देव में १३ वें गुणस्थान में इस कारण परीषह का व्यपदेश किया जाय, किन्तु महान कर्म जब नहीं है और परिपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान हो गया है तो वहाँ परीषह का कुछ मतलब नहीं, इस कारण इस सूत्र का अर्थ यों किया जा सकता कि एक अ दस मायने न १ परीषह है न १०/११हों परीषह नहीं हैं। यहाँ प्रश्न उठा कि केवली भगवान के घातिया कर्मों का नाश हो गया है सो अब नग्न अरति आदिक परीषहें नहीं होती है, किन्तु वेदनीय कर्म का तो उदय है अतः वेदनीय के आश्रय होने वाली परीषहें होनी ही चाहिए। उत्तर—केवली भगवान में घातियाकर्म नहीं रहे सो घातियाकर्मों के उदय की सहायता से ही तो अन्य

कर्म बलवान हुआ करते थे। सो घातिया कर्म रूपी सहायता न मिलने से अन्य कर्मों का सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। जैसे कि मन्त्र और औषधि के प्रयोग से विष की मारण शक्ति खतम हो गई, उस विष को खा लेने पर भी मरण नहीं होता, इसी प्रकार ध्यान अग्नि द्वारा घातिया कर्मरूपी ईंधन के जल जाने पर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द के स्वामी केवली भगवान के अब अन्तराय तो कुछ रहा नहीं और प्रतिक्षण साता वेदनीय का शुभ कर्म का आश्रव होता रहता है, और शुभ कर्मों का संचय बना है सो सहायता करने वाले कर्म नष्ट हो जाने से वेदनीय कर्म रहा है तो रहा आये पर वे अपना कार्य नहीं कर सकते। इसी कारण केवली भगवान में क्षुधा आदिक नहीं होते। उनका आनन्द ही अनन्त आनन्द है। क्षुधा परीषह का प्रश्न ही क्या? अथवा उस उस कर्म का उदय होने के कारण यह भी मान लो कि १२ परीषह होते हैं, पर वे ध्यान की तरह उपचार से माने गए हैं। जैसे कि ध्यान का अर्थ तो यह है कि किसी एक पदार्थ में ही चिन्तवनका रुक जाना, पर केवली भगवान के मन ही नहीं है तो किस तरह उपयोग एकाग्र करें। इसलिए ध्यान तो न माना जाना चाहिये पर ध्यान का फल क्या है? कर्म का निर्जरण, वह यहाँ हो ही रहा है। तो ध्यानफल की बात यहां भी चलते रहने से केवली भगवान में उपचार से ध्यान कहा गया है। ऐसे ही ११ परीषह चूंकि भगवान में उपचार से कहे जाना चाहिये अर्थात वेदनीय कर्म का उदय देखा जाता है। सो वही द्रव्य परीषह है। भावपरीषह जरा भी नहीं है कि उनके रंच भी परीषह होने पर कर्मों में परीषह है। वहाँ उस प्रकार का विपाक है, सो कर्मों में द्रव्य परीषह देखकर ११ परीषहों का उपचार कर लिया जाता है। वस्तुतः केवली भगवान में कोई भी परीषह नहीं हैं।

वादर साम्पराये सर्वे ॥ ९-१२ ॥

प्रमत्त विरत से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक सर्व परीषहों की सम्भवता—वादर साम्पराय अर्थात् स्थूल कषाय वाले जीवों में सभी परीषह होते हैं। यहाँ स्थूल कषाय का अर्थ अज्ञानी जीवों का न लेना क्योंकि प्रकरण है परीषह विजय का और परीषह विजय मुनियों को होता है इसलिए छठे गुण स्थान से बाद के गुणस्थान का यहाँ ग्रहण नहीं है। तब सूत्र का अर्थ हुआ छठे गुणस्थान से लेकर ९वें गुणस्थान तक के साधुओं के सभी परीषह होते हैं—क्योंकि परीषहों का कारण है ज्ञानावरणादिक कर्म। निमित्त यहाँ विद्यमान है अत: वादर साम्परायों के सभी परीषह कहे गए हैं। जहाँ सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि संयम है उस चारित्र में सभी परीषहों की सम्भावना है। कौन परीषह किस प्रकृति के उदय में बनता है उस प्रसंग में यह सब बताया जा रहा है।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ ९-१३ ॥

ज्ञानावरण के उदय में प्रज्ञापरीषह व अज्ञानपरीषह की सम्भवता—प्रज्ञापरीषह और अज्ञानपरीषह ज्ञानावरण के उदय से होते हैं। प्रज्ञा तो ज्ञानावरण के क्षयोपशम से बनती है, पर जो ज्ञानावरण का और उदय है उसमें घमंड उत्पन्न हो जाता है। जहाँ समस्त ज्ञानावरण का क्षय हो जाए वहाँ मद नहीं होता। सो यों प्रज्ञा परीषह भी ज्ञानावरण के उदय से कहा गया है और अज्ञानपरीषह तो स्पष्टतया ज्ञानावरण के उदय से होता है। उसमें तो कोई शंका ही नहीं है। मोहनीय कर्म के अनेक भेद हैं और उनका कार्य है सम्यग्दर्शन और चारित्र आदिक का नाश करना। तो जहाँ यह ज्ञान मद हुआ कि मैं बड़ा विद्वान हूँ सो कुछ बुद्धि मिलने पर ही तो ऐसा घमण्ड कर सका, सो उसे यहाँ मोह का कार्य न बताकर ज्ञानावरण का कार्य कहा गया है, और दूसरा कारण यह है कि चारित्र वाले

के भी प्रज्ञा परीषह होता है। जिनके संयम है, चारित्र है उन्हें भी इस ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से प्रज्ञा मिली और कुछ ज्ञानावरण के उदय के कारण उस अज्ञान स्थिति में घमण्ड बना, सो यों प्रज्ञा-परीषह ज्ञानावरण के उदय से कहा गया है। यदि चारित्र मोह के उदय से प्रज्ञा परीषह कहा जाए तो चारित्रवान के प्रज्ञा परीषह कैसे हो सकेगा ? सो ये दोनों परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से बताये गए हैं।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।। ६-१४ ।।

दर्शनमोह के उदय में अदर्शन परीषह की तथा अन्तराय के उदय में अलाभ परीषह की सम्भवता—अदर्शन परीषह और अलाभ परीषह ये दर्शन मोह के उदय से और अन्तराय के उदय से होते हैं। अदर्शन परीषह में ज्ञानातिशय न होने पर श्रद्धान विपरीत की सम्भावना में ज्ञानबल द्वारा मुनि अपने श्रद्धान को बिगड़ने नहीं देता। यह है अदर्शन परीषह विजय। पर यह अदर्शन परीषह आया कैसे ? तो दर्शन मोह की प्रकृति का किस प्रकार का उदय होने पर यह अदर्शन परीषह बनता है और अलाभ परीषह लाभान्तराय के उदय से बनता है। लाभान्तराय कर्म के उदय में जीव को लाभ नहीं हो पाता, और जब लाभ नहीं है तो उसकी आशा तृष्णा में यह जीव व्याकुलता मानता है। तो ऐसी स्थिति में अपने ज्ञानबल से मुनिराज उस अलाभ में अपने को व्याकुल नहीं होने देते, यह ही है अलाभ परीषह विजय। तो अदर्शनपरीषह दर्शन मोह के उदय में हुई और अलाभ परीषह लाभान्तराय कर्म के उदय में हुई। यद्यपि इन परीषहों की उत्पत्ति में अन्य-अन्य भी कारण हो जाते हैं लेकिन जो प्रधान कारण हैं, जिनके बिना ये परीषह बन ही नहीं सकते हैं उन कारणों को बताना आवश्यक है। जैसे अलाभ परीषह केवल वीर्यान्तराय के उदय में तो नहीं बनी, यदि उस विषयक कल्पना न जगे, कुछ चारित्र मोह उदयकृत विकार साथ न बने तो वह परीषह ही क्या हुई ? लेकिन अन्य कारण तो गौण रहते हैं और मुख्य कारण वह होता है जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक होता है। तो यह अदर्शन परीषह दर्शनमोहनीय के उदय से हुआ और अलाभ परीषह लाभान्तराय के उदय से हुआ, यह कथन समीचीन है।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार पुरस्काराः ।। ६-१५ ।।

चारित्रमोह के उदय में संभावित सात परीषहों का निर्देश—चारित्रमोह के उदय से नाग्न्य-परीषह, अरतिपरीषह, स्त्रीपरीषह, निषद्यापरीषह, आक्रोशपरीषह, याचनापरीषह और सत्कार पुरस्कारपरीषह होते हैं। इस सूत्र के इन ७ परीषहों का कारण पुरुषवेद आदिक चारित्रमोह का उदय है और दर्शनमोह के कारण अदर्शनपरीषह होता है, यह इससे पूर्व सूत्र में कहा गया है। तो उस समेत ये सब ८ परीषह मोहनीय सम्बन्धी बताये गए थे। यहाँ चारित्रमोहकृत परीषहों का वर्णन चल रहा है। नग्न हो जाने पर भी जो भीतर में संकोच हो जाता है वह चारित्रमोह के उदय से होता है। अरतिभाव तो चारित्रमोह के उदय से है ही, स्त्रीसमागम होने पर या स्त्री विषयक विचार होने पर जो एक परीषह आता है वह पुरुषवेद मोहनीय के उदय से हुई। बैठने में जहाँ बाधा सी विदित होती है और कुछ कष्ट सा होता है तो वहाँ चारित्रमोह के उदय की ही तो बात है। गाली सुनने पर बुरा लगना अथवा कोई अलाभ होने पर याचना का प्रसंग आना या किसी गोष्ठी में सत्कार पुरस्कार न हो सकने का खेद सम्पादित होना यह सब चारित्रमोह के उदय से ही सम्भव है। मोह के उदय से ही प्राणीहिंसा के परिणाम होते हैं। इन प्राणियों की हिंसा न हो सके उस संयम के पालन के लिए ही

एक आसन से बैठे रहने का संकल्प था, पर उसमें कोई अड़चन आयी तो समझना चाहिए कि उनके चारित्रमोह के उदय से ही तो हुई। तो ये समस्त परीषहें चारित्रमोह के उदय में होती है।

वेदनीये शेषाः ॥ ६-१६ ॥

वेदनीय कर्म के उदय में सम्भावित ग्यारह परीषहों का निर्देश—अभी तक जिन परीषहों का वर्णन किया गया है वे कौन सी परीषह किस कर्म के उदय से हुई, तो उन वर्णित परीषहों के अतिरिक्त जो शेष बची हैं ११ परीषह वे वेदनीय के उदय से हुई हैं। याने वेदनीय कर्म का उदय होने पर ये परीषहें बनती हैं जो शेष रह गईं। वे हैं क्षुधा, पिपासा, शीत उष्ण, दंतमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। इन नामों से ही यह जाहिर होता है, कि इनमें खेद का परिणाम होता है, और वे असातावेदनीय के उदय से सम्भव है। सो जहाँ तक वेदनीय का उदय है वहाँ तक ये परीषहें समझना चाहिए। इसी आधार पर जिनेन्द्र में ११ परीषहें हैं, यह कहने का साहस हुआ है। वहाँ परीषह एक भी नहीं है, विकार रंच भी नहीं है। खेद कैसे हो सकता है? जहाँ पूर्ण वीतरागता है और सर्वज्ञता प्रकट हुई है ऐसे परम पवित्र परमात्मा के परीषहों का अवसर ही क्या है। पर बताने का प्रयोजन यह है कि यह जान जायें कि वेदनीय का उदय यहाँ तक है। तो ऐसे यह ११ परीषह वेदनीय का उदय होने पर कहा गया है। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि परीषह तो २२ कहे गए, लेकिन किसी मुनि के एक समय में १२ परीषह हो सकते हैं क्या? अथवा कितने होते हैं? इसका समाधान करने के लिये सूत्र कहते हैं।

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ ६-१७ ॥

मुनिराज में एक साथ सम्भावित अधिक से अधिक परीषहों की संख्या का निर्देश—एक जीव के एक साथ १ से लेकर १९ परीषह तक हो सकते हैं। दो परीषह क्यों कम हो गई? शीत और उष्ण परीषह में से कोई १ ही तो होगी। जब ठंड का दुःख है तो गर्मी का नहीं, जब गर्मी का दुःख है तो ठंड का नहीं तो एक परीषह तो यह कम हो जाता है और फिर शयन निषद्या चर्या अर्थात सोना, बैठना, चलना ये तीन काम एक साथ तो नहीं हो सकते। इन तीन में से कोई एक होगा। और जो होगा उस ही की परीषह है। तो इन तीन में कोई एक होने से दो नहीं हो सकते। तो दो ये घट गए। इस प्रकार तीन परीषह कम हो जाने से १९ परीषहों को बताया गया है कि किसी मुनि के साथ-साथ अधिक से अधिक परीषह होवें तो १९ परीषह तक हो सकते हैं। किसी के एक ही परीषह होती किसी के और अधिक होते, पर १९ परीषहों से अधिक किसी मुनि में नहीं हो सकते। परीषह विजय में सफलता का आधार सहज चैतन्य स्वरूप का ही अवलम्बन है और इस आलम्बन के प्रताप से कर्मों का संवर होता है।

परीषह विजयों की संख्या में हीनाधिकत्व हो सकने की सम्भावना पर चर्चा समाधान—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि जहाँ प्रज्ञा है वहां अज्ञान कैसे और जहाँ अज्ञान है वहाँ प्रज्ञा कैसे? तो जैसे चर्या, निषद्या, शय्या इनमें विरोध है। ये तीनों एक साथ नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा और अज्ञान ये भी एक साथ नहीं हो सकते और इस कारण ज्यादह से ज्यादह १९ परीषह होते हैं, इस कथन के बजाय १८ परीषह होते हैं यह कहना चाहिये। समाधान—यह शंका युक्त नहीं है. क्योंकि अपेक्षा लगाने से प्रज्ञा और अज्ञान में विरोध नहीं होता। वह अपेक्षा क्या है कि श्रुतज्ञान की अपेक्षा से प्रज्ञा बहुत अधिक होने पर भी अवधिज्ञान का अभाव है तो वहाँ अज्ञान बन जाता है। इस प्रकार एक मुनि में प्रज्ञा और अज्ञान दो परीषह हो सकते हैं और एक ही साथ दोनों परीषहों की सम्भावना

की जाती है। यहाँ कोई यदि ऐसा समाधान दे कि दंसमशक परीषह में दो परीषह आ गए—(१) दंस परीषह और (२) मशक परीषह। सो प्रज्ञा और अज्ञान को तो एक साथ मान लो, पर दंश और मशक दोनों परीषह एक साथ हो जाते हैं। डाँस भी काट रहे हैं और मच्छर भी काट रहे हैं सो यों १६ के १६ हो जायेंगे। इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसा समाधान करना भी ठीक नहीं, क्योंकि यहां परीषह अलग नहीं है, मशक तो डाँस की जाति का ही है, फिर मशक शब्द देने की क्या जरूरत थी ? उपलक्षण करने के लिये प्रकार बताने के लिये कि जैसे डाँस काटते हैं ऐसे ही जितने भी जन्तु काटने वाले हैं उनका यह एक परीषह बनता है। तब ही तो बिच्छू ततैया आदिक कुछ भी काटे तो वह दंश-मशक परीषह है।

परीषहों की बाईस संख्या के विषय में प्रश्नोत्तर—अब यहाँ कोई प्रश्न करता है कि चर्या आदिक तीन परीषह समान हैं। उन्हें तो एक में ही मान लेना चाहिये था। चाहे बैठने के परीषह हों चाहे लेटने के या चलने के, दु:ख पीड़ा एक समान मानकर फिर कह लेना चाहिये कि वे एक साथ नहीं हो सकते, क्योंकि बैठने में परीषह आ जाये तो वह सो सकता है। सोने में परीषह आ जाये तो वह चल सकता है, पर सहन विधि एक जैसी है। सो इन ३ को तो एक परीषह मान लेवें और दंस-मशक को दो परीषह मान लेवे सो यहाँ परीषहों की संख्या २१ कर देना चाहिए। फिर उनमें से छटनी बनाओ कि एक काल में शीत उष्ण में से एक परीषह मिलेगी। शय्या, चर्या, निषद्या के प्रति-निधि एक होंगे, इस तरह दो परिषहों को कम करके १७ संख्या बताना चाहिये। एक मुनि में अधिक से अधिक १७ परीषह हो सकेंगे। उत्तर देखिये—प्रश्नकर्ता ने चर्या, शय्या के बतलाने में अरति कारण बताया है सो अरति यदि रहती है तो उसे परीषह जय नहीं कहा जा सकता। यदि साधु चर्या के कष्ट से उद्विग्न होकर बैठ जाता है या बैठने से उद्विग्न होकर लौट जाता है तो वह परीषहजय कैसे ? परी-षहजय तो वहाँ है जहां परीषह आने पर उनके विजय का संकल्प रहता है और विजय के मूल आत्म-स्वरूप पर दृष्टि जाती है। उद्वेग से चलने, उठने, लेटने वाले साधु जिसके कि परिषहों को जोतूंगा इस प्रकार की रुचि नहीं है उसका वह परोषह विजय नहीं कहा जा सकता, इस कारण तीनों क्रियाओं के कष्टों को जीतना और एक के कष्ट के निवारण के लिए दूसरे की इच्छा न करना यह ही परीषहजय है। सो चर्या, निषद्या, शय्या ये तो स्वतन्त्र परीषह हैं और दंस मशक यह एक परीषह है, इस प्रकार २२ परीषह विजय होते हैं जिनमें एक साथ मुनि के १६ परीषह विजय होते हैं।

संवर के हेतुभूत चारित्र के प्रतिपादक सूत्र की भूमिका—अब परीषहजय के बाद सम्वर के हेतुओं में चारित्र के वर्णन का क्रम आता है। चारित्रमोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होने वाली आत्मा की विशुद्ध दृष्टि से चारित्र एक ही है, क्योंकि चारित्र में चाहिए कषायरहित अपने स्वरूप में स्थिर होना, सो यह प्रयोजन सभी प्रकार के संयमों में है। इसलिए सामान्यतया चारित्र एक ही प्रकार का होता है, किन्तु उसकी प्रवृत्ति का प्रकट रूप देखें तो प्राणि संयम और इन्द्रिय संयम की अपेक्षा दो प्रकार का चारित्र है। संयम का अभ्युदय होने पर मुनिराज प्राणियों की हिंसा से बचते हैं और इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति से अलग रहते हैं, इस कारण संयम दो प्रकार का है और उस संयम को उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य विशुद्धि के भेद से परखा जाये तो वह तीन प्रकार का हो जाता है। (१) उत्कृष्ट संयम, (२) मध्यम संयम और, (३) जघन्य संयम। अब इस ही चारित्र से छद्मस्थ

और सर्वज्ञों में निरखा जाये तो छद्मस्थों में दो प्रकार का चारित्र है—(१) सराग चारित्र और, (२) वीतराग चारित्र। सर्वज्ञों में दो प्रकार का चारित्र है—(१) सयोगचारित्र और, (१) अयोग चारित्र। सो इस दृष्टि से चारित्र ४ प्रकार का होता है, और इस ही चारित्र को भिन्न-भिन्न लक्षण के असंयम में निरखा जाए तो ५ प्रकार का होता है। चारित्र के वे ५ प्रकार अगले सूत्र में कहे जा रहे हैं।

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहार विशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ ९-१८ ॥

चारित्र के प्रकारों में प्रथम सामायिक चारित्र का प्रतिपादन—सामायिक संयम, छेदोपस्थापना संयम, परिहार विशुद्धि संयम, सूक्ष्मसाम्पराय संयम और यथाख्यात संयम, इस प्रकार चारित्र के ५ भेद हैं। सामायिक संयम का लक्षण है कि सभी सावद्य योगों का, पाप प्रवृत्तियों का अभेद रूप से याने अमुक-अमुक का त्याग करते हुये ऐसे भिन्न-भिन्न पापों का विकल्प न करके अभेद रूप से आजीवन त्याग करना अथवा यथोचित का नियत समय तक त्याग करना सामायिक संयम है। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि सामायिक संयम तो गुप्ति ही है क्योंकि इस सामायिक में भी निवृत्ति बताया गया कि सर्व पापों से अलग रहना सामायिक है और गुप्ति में भी निवृत्ति कहा गया कि मन, वचन, काय की प्रवृत्ति हटा देना गुप्ति है। तो निवृत्ति परक होने से सामायिक गुप्ति रूप ही हो गई, फिर उसका अलग निर्देश क्यों किया गया ? उत्तर—सामायिक को गुप्ति नहीं कह सकते क्योंकि इस गुप्ति में तो मन के व्यापार का भी निरोध हो जाता है, किन्तु सामायिक में मानस प्रवृत्ति रहती है, याने रागद्वेष न करके मन में समताभाव आता है। यहाँ कोई कह सकता है कि जब सामायिक में मानस प्रवृत्ति है तब तो इसे समिति कह देना चाहिये यों भी सामायिक का अलग ग्रहण न किया जाना चाहिये। सो यह भी शंका उचित नहीं है, सामायिक चारित्र उत्तम तत्त्व है। जो सामायिक चारित्र में समर्थ है उस ही पुरुष को समितियों में प्रवृत्ति करने का अधिकार है और उसी को ही उपदेश है। सो इसमें कार्य कारण का भेद स्पष्ट जचता है। सामायिक संयम कारण है और समिति कार्य है। अब एक शंकाकार कहता है कि धर्म १० प्रकार के बताये गए हैं, उनमें उत्तम संयम भी कहा गया है। तो इस सामायिक का उत्तम संयम में अन्तर्भाव हो जायेगा। यों सामायिक का निर्देश न करना चाहिये। उत्तर चारित्र का कथन अन्त में किया गया है और उस चारित्र के पालन में सामायिक एक प्रधान संयम है यह समस्त कर्मों के क्षय का कारण है यह बात समझाने के लिये संयम चारित्र का वर्णन किया गया है। यद्यपि चारित्र धर्म में अन्तर्भूत हो जाता है तब भी इस चारित्र को अलग बताया और अन्त में बताया सो उसका कारण यह है कि यह समझ बने कि चारित्र मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है।

छेदोपस्थापना नामक द्वितीय चारित्र का प्रतिपादन—छेदोपस्थापना चारित्र का लक्षण है यह कि प्रमादवश कोई अनर्थ का प्रसंग आ जाए तो उस प्रसंग को हटाने में, प्रमाद को दूर करने में जो सम्यक प्रतिकार होता है उसे छेदोपस्थापना कहते हैं। अथवा समता का छेद याने भंग हो जाए तो फिर से समता धारण करना उसे छेदोपस्थापना कहते हैं। त्रस स्थावर जीवों का उत्पाद और समता के स्थान चूंकि पदमस्थ जीवों को प्रत्यक्ष नहीं है इस कारण जो निषद्य क्रिया का पालन स्वीकार किया था उतमें प्रमादवश दूषण लग सकता है। सो उन दूषणों का सम्यक् प्रकार से प्रतिकार करना छेदोपस्थापना है। अथवा पाप कर्म ५ प्रकार के हैं—(१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी,

(४) कुशील और, (५) परिग्रह। इन पापों का त्याग करना, ऐसे अभिप्राय सहित जो पापों से निवृत्ति है उसे छेदोपस्थापना कहते हैं।

परिहार विशुद्धि नामक तृतीय चारित्र का प्रतिपादन—परिहार विशुद्धि का लक्षण है—जिसमें प्राणिवध के परिहार के साथ ही साथ विशिष्ट शुद्धि हो वह परिहार विशुद्धि चारित्र है। परिहार विशुद्धि एक ऋद्धि होती है। इस ऋद्धि के प्रताप से ऋद्धिधारी साधु के परिहार बिशुद्धि चारित्र बनता है। यह ऋद्धि किसके उत्पन्न हुई है सो सुनो जिस पुरुष ने तीन वर्ष से ९ वर्ष तक अर्थात पृथक्त्व वर्ष तक तीर्थंकरके चरण कमल की सेवा की हो और उस समय आयु उसकी ३० वर्ष की हो और उस चरण कमल की सेवा के समय में प्रत्याख्यानाबरण नामक पूर्व का खूब पारंगत हो जिससे कि प्राणियों की हिंसा के त्याग से सम्बन्धित काल परिभ्रमण जन्मयोनि, देश, द्रव्य स्वभाव, विधान आदिक को जानता हो, प्रमादरहित हो, महान् शक्तिशाली हो, जिसके कर्मों की बड़ी निर्जरा चलती हो, अत्यन्त दुष्कर चर्या का अनुष्ठान करता हो, तीनों संध्याओं को देखकर दो कोष प्रमाण गमन किया करता हो ऐसे साधु के परिहार विशुद्धि नामक ऋद्धि होती है और उसके परिहार विशुद्धि नामक चारित्र होता है।

सूक्ष्म साम्पराय के चारित्र नामक चतुर्थ चारित्र का प्रतिपादन—सूक्ष्म साम्पराय चारित्र—जो साधु स्थूल और सूक्ष्म प्राणियों के वध के परिहार में पूर्णतया सावधान हैं—प्रमादरहित हैं, उत्साहशील हैं, जिनका चारित्र अखण्डित है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूपी तेज हवा से धोकी गई अन्तः चारित्ररूपी अग्नि की ज्वाला से जिसने कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है, ध्यान विशेष के कारण जिसने कषाय के विष अंकुरों को मूल से उखाड़ दिया है, सूक्ष्म मोहनीय कर्म के बीज को भी जिसने नाश के मुख में ढकेल दिया है ऐसे सूक्ष्म लोभ कषाय वाले साधु के सूक्ष्म साम्पराय चारित्र होता है। सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान का क्या स्वरूप है उसे बताते समय अनेक लोग यह कहते हैं कि जहां सब कषायें दूर हो गई हों, सिर्फ सूक्ष्म संज्वलन लोभ रहा हो उसे सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान कहते हैं। पर बहुत अच्छी विधि तो यह है सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान का स्वरूप बताने की कि समस्त कषायें नष्ट होकर जहां केवल संज्वलन सूक्ष्म लोभ रहा हो उसके विनाश के लिये भी जिसका पौरुष चल रहा है, विशुद्ध परिणाम बन रहे हैं उसको सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान कहते हैं। यह ही बात सूक्ष्म साम्पराय चारित्र में है। यह चारित्र में बताए हुए सूक्ष्म संज्वलन लोभ के लिये होता है। यह सूक्ष्म साम्पराय चारित्र १०वें गुणस्थान में हुआ करता है।

यथाख्यातचारित्र—चारित्र मोहनीय का सम्पूर्ण उपशम होने से या क्षय होने से आत्मस्वभाव के अनुकूल आविर्भाव होता है यथाख्यातचारित्र है। अथवा इसका दूसरा नाम अथाख्यातचारित्र भी कहा जा सकता। जैसा यह चारित्र प्रकट हुआ है ऐसा इस जीव ने कभी नहीं पाया मोह का क्षय उपशम होने से पहले। इस कारण इसका नाम अथाख्यात भी कह सकते हैं और यथाख्यात का सीधा अर्थ है—यथा मायने जैसे आत्मा का स्वभाव है उसी प्रकार ख्यात हो जाना, प्रकट हो जाना यथाख्यात कहलाता है। इस सूत्र में ५ चारित्रों का नाम देकर इति शब्द कहा है। इतिचारित्रं। सो इति कहने का अर्थ है कि चारित्र सब समाप्त हो याने यथाख्यात चारित्र जहाँ हो वहाँ समस्त कर्मक्षय की समाप्ति होती है। और चारित्र की पूर्णता भी यहीं हो जाती है। इसी कारण यथाख्यातचारित्र ११वें, १२वें, १३वें, १४वें गुण स्थान में बताया गया है। १४वें गुण स्थान में यथाख्यात चारित्र होता है और इसकी

परिपूर्णता होते ही शेष बची हुई ८५ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है और इसके बाद ये सिद्ध प्रभु बन जाते हैं। तो यथाख्यात चारित्र का महत्त्व समझाने के लिए सूत्र में यथाख्यातचारित्र कहकर इति शब्द कहा है, यह सब चारित्र है। जैसे पहले सूत्र में बताया गया था कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र का एकत्व मोक्षमार्ग है। यद्यपि वहाँ एकत्व शब्द नहीं दिया, पर सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि यह तो कहा गया बहुवचन में और मोक्षमार्गः कहा गया एकवचन में। उससे ही सिद्ध होता है कि ये तीनों अलग-अलग मोक्षमार्ग नहीं हैं किन्तु तीनों का समुदाय परिपूर्ण एकत्व मोक्ष का मार्ग है। तो ऐसे ही यहाँ संकेत किया गया है कि उन तीनों का एकत्व होने पर बात क्या गुजरती है? परमयथाख्यातचारित्र, सो यथाख्यात नाम देकर इसके आगे इति शब्द कहा है।

चारित्र के प्रकारों के नामों का सूत्र में क्रम रखे जाने के कारण पर विहंगमदृष्टि, चारित्र के संवर हेतुत्व व तप के वर्णन की उत्थानिका—अब इन चारित्रों का जो क्रम रखा गया है उसका कारण देखिये—आगे आगे के चारित्र विशेष विशुद्ध हैं। यह क्रम ध्यान में रखकर इन चारित्रों के नाम से क्रम बताया गया है। सामायिक और छेदोपस्थापना की जघन्य विशुद्धि अल्प है। उससे परिहार विशुद्धि की जघन्यलब्धि अनन्तगुणी है। फिर परिहार विशुद्धि की उत्कृष्ट लब्धि अनन्तगुणी है। उससे अनन्त गुणी सामायिक और छेदोपस्थापना की उत्कृष्ट लब्धि है। यथाख्यातचारित्र की सम्पूर्ण विशुद्धि अनंत गुणी है। यथाख्यातचारित्र की सम्पूर्ण विशुद्धि में जघन्य उत्कृष्ट विभाग नहीं होता, इस प्रकार इन ५ चारित्रों में इस उपलब्धि और विशुद्धि की तारतम्यता बताने के लिए यह समस्या रखी गई है। ये पांचों ही चारित्र शब्द की दृष्टि से संख्यात हैं, और आशय की दृष्टि से असंख्यात हैं और अर्थ की दृष्टि से अनन्त भेद वाले हैं। ये चारित्र सम्वर के हेतुभूत हैं क्योंकि इन चारित्रभावों के प्रताप से कर्मों का आस्रव रुकता है, इस कारण ये चारित्र परमसम्वर रूप हैं। इस प्रकार ९वें अध्याय के दूसरे सूत्र में जो सम्वर के हेतु बताये गये थे गुप्तिसमिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र, सो इन सभी भेदों का वर्णन हो चुका है। ये सभी चारित्र परम सम्बररूप हैं। अब सम्बर के उपायों के वर्णन के बाद जैसा कि तीसरे सूत्र में बताया है कि तपश्चरण से निर्जरा भी होती है और सम्वर भी होता है। तो तीसरे सूत्र के अनुसार तब तपों का वर्णन चलना चाहिये। तप कहते हैं इच्छानिरोध को। इच्छा-निरोध यद्यपि आन्तरिक तत्त्व है तो भी उसके बाह्य और आभ्यन्तर दो रूप बन जाते हैं, क्योंकि भाव भी है और प्रवृत्ति भी है, और बाह्य तप के ६ भेद हैं और इसी प्रकार आभ्यन्तर तप के भी ६ प्रकार हैं। इस प्रकार तप के १२ भेद होते हैं, जिनमें से अब बाह्य तपों के भेद कहे जाते हैं।